साम्ब पञ्चाशिका

ॐ पुष्णान् देवानमृत
विसै: इन्दुभाभिराश्य
सम्यक् । भाभि: ह्वाभीर
सयति रसं य परंनिरु
भेद, क्षीणं क्षीणं पुनर
पिबैवं, पूरयत्येव मीहक्
दोलालीलोल्लसित
हृदयं, नौमि चिद्भानु
हकम् ॥

साम्बपञ्चाशिका

—:*:—

*शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपते-
रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोऽरुणतया यस्य [1]त्रयीमण्डलम् ।
भास्वद्वर्णपदक्रमेरिततमः सप्तस्वराश्वैर्वियद्-
विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे ॥१॥

तस्मै पर-ब्रह्मणे नमः (अस्तु), शब्द-अर्थत्व-विवर्तमान-परम-ज्योतिः-रुचः यस्य गोपतेः त्रयी-मण्डलं भास्वत्-वर्ण-पद-क्रम-ईरित-तमः, सप्त-स्वर-अश्वैः वियत्-विद्या-स्यन्दनम् उन्नयन् इव उद्गीथः पुरः अरुणतया अभि-उदितः (अस्ति)॥१॥

उस परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार हो, जो (परब्रह्म रूपी) सूर्य शब्दों तथा (उन के) अर्थों से प्रवर्तित हुई परम ज्योति की कान्ति से युक्त है, जिस का वेद-त्रयी रूपी मण्डल सुन्दर वर्णों और पदों रूपिणी चमकीली किरणों के क्रम से तमोगुण रूपी अन्धकार को नष्ट करता है, जो सात स्वरों रूपी घोड़ों से चित् रूपी आकाश में विद्या रूपी रथ को चलाता है और ओम-स्वरूप अरुण के प्रकट होने पर उदय करता है ॥१॥

---

१ * पौराणिक कथाओं में सूर्य देवता का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वह एक रथ में बैठ कर आकाश में विचरण करता है। अरुण नाम का सारथि और हरे रंग के सात घोड़े उस रथ को चलाते हैं। कवि ने इस श्लोक में बाह्य सूर्य के इसी रूप के आधार पर आन्तरिक सूर्य का रूप अंकित किया है।

१. [1]ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को वेद-त्रयी कहते हैं।

श्रवणरसनाघ्राणपाण्यङ्घ्रिवाणी-
स्थितिरपि मनोबुद्ध्यहंकारमूर्तिः ।
हिरपि जगद्भासयन्द्वादशात्मा*
तं सकलकरणाधारमेकं प्रपद्ये ॥३॥

एकं सकल-करण-आधारं मार्तण्डं प्रपद्ये,
-चक्षुः-श्रवण-रसना-घ्राण-पाणि-अङ्घ्रि-
-स्थितिः अपि, अन्तर् मनः-बुद्धि-अहंकार-
द्वादश-आत्मा (सन्) जगत् भासयन्

इतीय (चित् रूपी) सूर्य को प्रणाम करता हूँ, जो
) इन्द्रियों का आधार है, जो बाहिर से त्वचा,
नाक, हाथ, चरण, वाणी, पायु और उपस्थ में
भीतर से मन, बुद्धि और अहंकार की मूर्ति को
और जो (इस प्रकार) बारह रूपों वाला हो
काते हुए ठहरा हुआ है ॥३॥

संबन्ध है, या यों कहा जाय कि दोनों एक ही
, इसलिए इन दोनों को एक ही इन्द्रिय अर्थात् एक
सकता है। अतः ऊपर कहे गये इन सब रूपों
ही है और तरह नहीं है।

और वरुण के घर' से अभिप्राय है 'मध्य-धाम' का,
उत्पत्ति-स्थान है और अग्नीषोमात्मक और परा-
पर्याय-वाची शब्द है। 'सूर्य' शब्द में गरमी की
ण अग्नि की ओर, और 'वरुण' शब्द में सरदी की
ण सोम अर्थात् चन्द्रमा की ओर संकेत है। यह
न होगा कि वरुण जल का देवता कहा जाता है।

ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणि शब्दो
*वाणी यस्मात्प्रसरति परा शब्दतन्मात्रगर्भा
प्राणापानौ वहति च समौ [यो मिथो ग्रासक्तौ
देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये ॥२॥

(अहं) देहस्थं तम् आद्यं परम-आदित्यं सपदि प्रपद्ये, यः प्रति-प्राणि ओम्-इति शब्दः अन्तर् नियतं नदति, यस्मात् शब्दतन्मात्र-गर्भा परा वाणी प्रसरति, यः च मिथः ग्रास-सक्तौ प्राणापानौ समौ वहति ॥२॥

मैं शरीर में ठहरे हुए उस ज्येष्ठ और उत्तम सूर्य को शीघ्र ही प्रणाम करता हूँ, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में 'ओम' शब्द का निरन्तर उच्चारण करता है, जिस से शब्द-तन्मात्र-गर्भित (पश्यन्ती नाम वाली) दूसरी वाणी प्रसरित होती है और जो एक दूसरे का ग्रास करने में लगे हुए प्राण और अपान को साम्य-भाव से धारण करता है ॥२॥

---

१ *शास्त्रों में वाणियां चार प्रकार की कही गई हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। 'पश्यन्ती' वाणी हृदयाकाश में निर्विकल्प-भाव से स्वयं उच्चरित होती है। इस का अनुभव तो योगी-जन ही कर सकते हैं।

२ ईश्वर के अनुग्रह से ही, प्राण और अपान के बीच वाले आकाश में विमर्श करने से, वे प्राण और अपान मध्य-नाड़ी में स्वयं ही लय हो जाते हैं। तदनन्तर ही योगी को उस परम-आदित्य अर्थात् चित् रूपी सूर्य की स्थिति का अनुभव होता है।

३* पौराणिक कथा के अनुसार बारह आदित्यों अर्थात् बारह मासों को सूचित करने वाले बाह्य सूर्य के बारह रूपों का उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार चित्-सूर्य के भी बारह रूप कहे गये हैं, जो त्वचा आदि हैं। चूंकि मन और बुद्धि का एक दूसरे के

यस्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणपाण्यङ्घ्रिवाणी-
पायूपस्थस्थितिरपि मनोबुद्ध्यहंकारमूर्तिः ।
तिष्ठत्यन्तर्बहिरपि जगद्भासयन्द्वादशात्मा*
मार्तण्डं तं सकलकरणाधारमेकं प्रपद्ये ॥३॥

(अहं) तम् एकं सकल-करण-आधारं मार्तण्डं प्रपद्ये, यः बहिर् त्वक्-चक्षुः-श्रवण-रसना-घ्राण-पाणि-अङ्घ्रि-वाणी-पायु-उपस्थ-स्थितिः अपि, अन्तर् मनः-बुद्धि-अहंकार-मूर्तिः— (इत्येवं) द्वादश-आत्मा (सन्) जगत् भासयन् तिष्ठति ॥३॥

मैं उस अद्वितीय (चित् रूपी) सूर्य को प्रणाम करता हूँ, जो सभी (अर्थात् बारह) इन्द्रियों का आधार है, जो बाहिर से त्वचा, आंख, कान, जिह्वा, नाक, हाथ, चरण, वाणी, पायु और उपस्थ में स्थित हो कर भी भीतर से मन, बुद्धि और अहंकार की मूर्ति को धारण किये हुए है और जो (इस प्रकार) बारह रूपों वाला हो कर जगत को चमकाते हुए ठहरा हुआ है ॥३॥

साथ बड़ा अकाट्य संबन्ध है, या यों कहा जाय कि दोनों एक ही वस्तु के दो नाम हैं, इसलिए इन दोनों को एक ही इन्द्रिय अर्थात् एक ही रूप माना जा सकता है। अतः ऊपर कहे गये इन सब रूपों की संख्या बारह ही है और तेरह नहीं है।

४ * 'सूर्य और वरुण के घर' से अभिप्राय है 'मध्य-धाम' का, जो प्राण-अपान का उत्पत्ति-स्थान है और अग्नीषोमात्मक और परा-वाणी का ही एक पर्याय-वाची शब्द है। 'सूर्य' शब्द में गरमी की प्रधानता के कारण अग्नि की ओर, और 'वरुण' शब्द में सरदी की प्रधानता के कारण सोम अर्थात् चन्द्रमा की ओर संकेत है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वरुण जल का देवता कहा जाता है।

या सा *मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती †त्रिषष्टिं
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात्प्रसूतान् ।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥४॥

(अहं) तां प्रथमम् उदितां पश्यन्तीं वाचं, बुद्धि-संस्थां मध्यमां (वाचं) वक्त्रे च करण-विशदां वैखरीं (वाचं) प्रपद्ये, या सा (तालु-आदि-स्थान-प्रयत्न-रूपात्) प्राण-सङ्गात् प्रसूतान् त्रिषष्टिं वर्णान् अत्र मित्र-वरुण-सदनात् प्रकट-करणैः उच्चरन्ती (स्थिता अस्ति) ॥४॥

मैं उस (परा वाणी) को नमस्कार करता हूं, जो प्राणों के (तालु आदि स्थानों के प्रयत्न रूपी) संग से उत्पन्न हुए तिरसठ अक्षरों का, सूर्य और वरुण के घर से प्रकट इन्द्रियों के द्वारा, उच्चारण करती है और जो पहिले उदित होने पर 'पश्यन्ती' वाणी का (फिर) बुद्धि में स्थित होने पर 'मध्यमा' वाणी का और (उसके बाद) बोलने में इन्द्रियों के द्वारा स्पष्ट अक्षरों वाली 'वैखरी' वाणी का (रूप) धारण करती है ॥४॥

---

४ † व्याकरण की दृष्टि से अ, इ, उ और ऋ अक्षरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से बारह रूप होते हैं। लृ अक्षर के ह्रस्व और प्लुत के भेद से दो रूप होते हैं। ए, ऐ, ओ और औ अक्षरों के दीर्घ और प्लुत के भेद से आठ रूप होते हैं। स्पर्श २५, अन्तस्थ ४ और ऊष्म ४ अक्षर होते हैं। यम अर्थात् कुं, खुं, गुं और घुं ४ अक्षर होते हैं। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ४ अक्षर है। इस प्रकार कुल अक्षरों की संख्या ६३ बनती है।

ऊर्ध्वाधःस्थान्यतनुभुवनान्यन्तरा संनिविष्टा
*नानानाडिप्रसवगहना सर्वभूतान्तरस्था ।
प्राणापानग्रसननिरतैः प्राप्यते ब्रह्मनाडी
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना ॥५॥

सा ब्रह्मनाडी (रूपिणी) श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसन्ना भवतु, (या) ऊर्ध्व-अधःस्थानि अतनु-भुवनानि अन्तरा संनिविष्टा, (या) नाना-नाडि-प्रसव-गहना, (या) सर्व-भूत-अन्तरस्था (या च) प्राण-अपान-ग्रसन-निरतैः (योगिभिः) प्राप्यते ॥५॥

वह ब्रह्मनाडी (रूपिणी) निर्मल सूर्य की मूर्ति हम पर प्रसन्न हो, जो ऊपर और नीचे होने वाले अनेक भुवनों के मध्य में ठहरी हुई है, जो अनेक नाड़ियों के होने से घनी बनी हुई है, जो सब प्राणियों के हृदय में वास करती है और जो प्राण और अपान का ग्रास करने में लगे हुए (योगियों) को प्राप्त होती है ॥५॥

५* मनुष्य के शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियां होती हैं। इन में से मुख्य नाड़ी को 'ब्रह्मनाड़ी' कहते हैं। इसी ब्रह्मनाड़ी रूपी धागे में अन्य सभी नाड़ियां माला के दानों की भान्ति पिरोई हुई होती हैं।

ब्रह्मनाड़ी और चित्-देवता में कोई भेद नहीं है। ब्रह्मनाड़ी का अनुभव होने पर ही समस्त भुवनों का ज्ञान होता है। इस कारण से सभी भुवन भी ब्रह्मनाड़ी के ही अन्तर्गत कहे जा सकते हैं।

६* बाह्य सूर्य की मूर्ति ब्रह्माण्ड से भिन्न ठहर ही नहीं सकती, पर आत्मिक सूर्य की मूर्ति ब्रह्माण्ड के मार्ग से अव्यवहित है। इधर यह सूर्य तो जाड़े और गरमी की ऋतुओं में सरदी और गरमी के

न *ब्रह्माण्डव्यवहितपथा नातिशीतोष्णरूपा
नो या नक्तंदिवगमर्मिताऽतापनीयाऽपराहुः ।
वैकुण्ठीया तनुरिव रवेः राजते मण्डलस्था
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना ॥६॥

सा श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसन्ना भवतु, या ब्रह्माण्ड-व्यवहित-पथा न (भवति), (या) अति-शीत-ऊष्ण-रूपा न (अस्ति), (या) नक्तं-दिव-गम-मिता न (भवति), (या) अतापनीया अपराहुः (च अस्ति या) वा रवेः मण्डलस्था वैकुण्ठीया तनुः इव राजते ॥६॥

वह सर्वोत्कृष्ट भास्कर की निर्मल प्रतिमा हम पर प्रसन्न हो, जो ब्रह्माण्ड के मार्ग से अव्यवहित है, जो न अधिक ठंडी है और न अधिक गरम है, जो रात और दिन के चक्कर से मुक्त है, जो संताप न देने वाली और राहु के ग्रास से छूटी हुई है, जो (चित् रूपी) सूर्य के मण्डल में शोभायमान है और जो (इस प्रकार) विष्णु की (वामन-अवतार-संबन्धिनी) मूर्ति के समान है ॥६॥

भाव से युक्त होता है, पर उधर वह सूर्य अधिक सरदी या अधिक गरमी के विकार से रहित है। रात और दिन के होने पर बाह्य सूर्य अस्त तथा उदित होता है, पर आत्मिक सूर्य रात्रि तथा दिन के चक्कर में ही नहीं पड़ता। ऐहिक सूर्य की मूर्ति तो परिमित है, पर आत्मिक सूर्य की मूर्ति अपरिमित है। इस सूर्य की मूर्ति तो सरदी और गरमी के कारण संताप देती है, पर वह सूर्य आह्लाद तथा आनन्द वितरण करता है। इसके अतिरिक्त बाह्य सूर्य राहु से ग्रस्त हो जाता है, पर आन्तरिक सूर्य राहु के फंदे में कभी पड़ता ही नहीं। अतः यह बात स्पष्ट ही है कि इन दोनों सूर्यों में परस्पर कितना वैषम्य है।

यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म *तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि †परमं भाति निर्वाणमार्गः ।
त्र्य्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-
रन्तः ‡सूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तयेऽहं प्रपन्नः ॥७॥

अहं मुक्तये तद् चण्डरश्मेः मण्डलं प्रपन्नः (अस्मि), यत्र त्रिगुण-वपुषि तद् बिन्दु-रूपं ब्रह्म आरूढम्, यद् अपि योगीन्द्राणां परमं निर्वाण-मार्गः भाति, यद् त्रयी-आधारः प्रणवः-इति (उच्यते) यद् च अन्तर् सूक्ष्मम् (एवं) बहिर् बृहद् अपि अस्ति ॥७॥

मैं मुक्ति (की प्राप्ति) के लिए (उस) सूर्य के मण्डल की शरण में जाता हूं, जिस के (सृष्टि-स्थिति-संहार रूपी, या अकार-उकार-मकार रूपी, या प्राण-अपान-समान रूपी, या सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूपी) तीन गुणों से युक्त (प्रणव के) रूप में बिन्दु रूपी ब्रह्म स्थित है, जो बड़े बड़े योगियों को श्रेष्ठ (अर्थात् सच्चे) मोक्ष का उपाय दीख पड़ता है, जो ओंकार के रूप में तीन वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) का आधार है और जो भीतर से सूक्ष्म तथा बाहिर से महान् है ॥७॥

---

७ * सृष्टि-स्थिति-संहार, अकार-उकार-मकार और प्राण-अपान-समान के अविभक्त प्रकाश को बिन्दु कहते हैं।

७ † वैष्णव आदि द्वैतवादी जिस मुक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं, वह 'अपरा' अर्थात् असत्य मुक्ति ही कही जा सकती है, क्योंकि वह सच्ची मुक्ति न होकर उस का आभास-मात्र ही होती है। इस के प्रत्युत अद्वैतवादियों के दृष्टि-कोण से जिस मुक्ति को वाञ्छनीय कहा जाता है, वही 'परा' अर्थात् सच्ची मुक्ति है और उसी की ओर यहां संकेत है। ☙

*यस्मिन्सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः
क्षीणः क्षीणः प्रविशति यतो वर्धते चापि भूयः ।
यस्मिन्वेदा मधुनि सरघाकारवद्भान्ति चाग्रे
तच्चण्डांशोरमितममृतं मण्डलस्थं प्रपद्ये ॥८॥

अहं तत् चण्डांशोः मण्डलस्थं अमितम् अमृतम् प्रपद्ये, यस्मिन् सुर-पितृ-नरैः अन्वहं पीयमानः (इत्येवं) क्षीणः क्षीणः सोमः प्रविशति, यतः च अपि भूयः वर्धते, यस्मिन् च वेदाः मधुनि सरघा-आकार-वत् अग्रे भान्ति ॥८॥

मैं उस (चित्स्वरूप) सूर्य के मण्डल में स्थित (परमानन्द रूपी) अमित अमृत को प्रणाम करता हूँ, जिस में देवताओं, पितरों और मनुष्यों से सदा पिया जाने वाला (और इसी लिए क्रम-पूर्वक) क्षीण होता हुआ (प्राण-अपान रूपी) चन्द्रमा प्रवेश करता है, जिस (के सम्पर्क मात्र) से (वह चन्द्रमा) फिर अपने ही परिपूर्ण-भाव को प्राप्त होता है और जिस के आगे आगे वेद ऐसे ही दीख पड़ते हैं, जैसे शहद पर मधुमक्खियां ॥८॥

---

*वैष्णव आदि द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों की मुक्ति के लक्षणों और स्वरूपों में क्या भेद है— यह बात विस्तार-भय से नहीं लिखी जाती है।

७ † आध्यात्मिक सूर्य के दो रूप हैं, स्थूल और सूक्ष्म। बाहर से विश्वाकार होने के कारण उसका रूप स्थूल है और भीतर से 'प्राथमिक आलोचन' का स्वरूप होने से उसका रूप सूक्ष्म है। प्रत्येक वस्तु के देखने से पूर्व उस वस्तु के विषय में आकार से रहित निर्विकल्पभाव से जो प्रतीति होती है, उसे 'प्राथमिक आलोचन' या 'प्रथमाभास' कहते हैं। इसका अनुभव तो योगी-जन ही करते हैं।

*ऐन्द्रीमाशां पृथुकवपुषा पूरयित्वा क्रमेण
क्रान्ताः सप्त प्रकटहरिणा येन पादेन लोकाः ।
कृत्वा ध्वान्तं विगलितबलिव्यक्ति पाताललीनं
विश्वालोकः स जयति रविः सत्त्वमेवोर्ध्वरश्मिः ॥९॥

सः विश्व-आलोकः सत्त्वम् एव ऊर्ध्व-रश्मिः रविः जयति, येन पृथुक-वपुषा प्रकट-हरिणा विगलित-बलि-व्यक्ति ध्वान्तं पाताल-लीनं कृत्वा, (तथा) ऐन्द्रीम् आशां क्रमेण पूरयित्वा सप्त लोकाः (एकेन) पादेन क्रान्ताः ॥९॥

उस प्रकाशमय और उज्ज्वल किरणों वाले (चित् रूपी) सूर्य की जय हो, जो जगत का प्रकाशक है, जिस ने बाल-नारायण के रूप मे बलिदानव के व्यक्तित्व को नष्ट करते हुए तथा (उस के कुलाभिमा-नात्मक) अन्धकार को पाताल में लीन कर के इन्द्र-दिशा अर्थात् पूर्व दिशा को क्रम से व्याप्त किया और जिस ने (इस प्रकार) सातों लोकों को एक ही पग में घेर लिया ॥९॥

---

८ * यहां 'सोम' शब्द प्राण-अपान की ओर संकेत करता है। देवता, पितर और मनुष्य क्रम से सात्त्विक, राजस और तामसिक वृत्तियों को सूचित करते हैं। प्राण और अपान के अन्दर तथा बाहर आने जाने से ही वृत्तियों को पुष्टि प्राप्त होती है। अतः प्राण और अपान इन वृत्तियों के द्वारा ही समाप्त होते हैं। पर वास्तव में प्राणापान की समाप्ति नहीं होती है, क्योंकि प्राणापान की जो बाह्य तथा आन्तरिक संधि है, वही इन को बार बार जीवन प्रदान करती है। तभी तो ये प्राणापान समाप्त होने में नहीं आते। इस श्लोक में इसी संधि रूपी सूर्य की स्तुति की गई है।

९ * पुराणों के अनुसार बाह्य सूर्य भी आत्मिक सूर्य की भांति सात घोड़ों से चलाये जाने वाले रथ पर चढ़ कर पूर्व दिशा से

ध्यात्वा ब्रह्म प्रथममतनु प्राणमूले नदन्तं
दृष्ट्वा चान्तः प्रणवमुखरं व्याहृतीः सम्यगुक्त्वा ।
यत्तद्वेदे तदिति सवितुर्ब्रह्मणोक्तं वरेण्यं
तद्भर्गाख्यं किमपि परमं *धामगर्भं प्रपद्ये ॥१०॥

(अहं) प्रथमं प्रणव-मुखरं तत्-इति व्याहृतीः सम्यक् उक्त्वा, प्राण-मूले नदन्तम् अतनु ब्रह्म अन्तर् ध्यात्वा दृष्ट्वा च, तत् किम्-अपि परमं धाम-गर्भं भर्ग-आख्यं (तेजः) प्रपद्ये, यत् तत् सवितुः वरेण्यं (तेजः) ब्रह्मणा वेदे उक्तम् ॥१०॥

मैं पहले 'ओम्' शब्द के उच्चारण के साथ साथ 'तत्' इत्यादि (गायत्री-मन्त्र-संबन्धिनी) व्याहृतियां भली भान्ति बोलता हूं। (फिर) मूलाधार में स्थित, अनाहत शब्द करते हुए और देह (के संबन्ध) से रहित ब्रह्म का हृदय में ध्यान करता हूँ और (भीतर से उस का साक्षात्) दर्शन करता हूँ। (तत्पश्चात्) मैं उस अलौकिक, उत्कृष्ट और (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के) प्रकाश से गर्भित भर्ग नामक (सूर्य के तेज) को प्रणाम करता हूँ, जिस के वरणीय रूप का वर्णन हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ने वेद में किया है ॥१०॥

उदय करता है और उस की सारी किरणें क्षण भर में यहाँ संसार में व्याप्त होती हैं वहाँ इस के अन्धकार को भी नष्ट करती हैं।

९ † वास्तव में नारायण भी सूर्य का एक नाम है। गीता में भी कहा गया है— 'आदित्यानामहं विष्णुः'।

१० * स्तोत्रकार ने चित्सूर्य को 'धाम-गर्भ' इस कारण से कहा है कि सूर्य, सोम और अग्नि का प्रकाश अथवा जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का प्रकाश इसी तुरीयरूप चित्सूर्य के प्रकाश में गर्भित है।

त्वां स्तोष्यामि स्तुतिभिरिति मे यस्तु भेदग्रहोऽयं
सैवाविद्या तदपि सुतरां तद्विनाशाय युक्तः ।
स्तौम्येवाहं त्रिविधमुदितं *स्थूलसूक्ष्मं परं वा
विद्योपायः पर इति बुधैर्गीयते †खल्वविद्या ॥११॥

(अहं) त्वां स्तुतिभिः स्तोष्यामि इति तु यः अयं भेद-ग्रहः मे (अस्ति), सा एव अविद्या (भवति, तथापि) तत् अपि तत्-विनाशाय सुतरां युक्तः। (तस्मात्) अहं त्रि-विधम् उदितं स्थूल-सूक्ष्मं परं वा (त्वां) स्तौमि एव, (यतः) खलु परः विद्या-उपायः बुधैः अविद्या इति गीयते ॥११॥

मैं तुझे स्तुतियों के द्वारा प्रसन्न करूंगा, इस प्रकार का जो मुझे भेदावेश हुआ है, वही अविद्या है। पर यही (अविद्या) तो (भेद-आवेश-रूपिणी) उस (अविद्या) को नष्ट करने में सर्वथा युक्त है। (आप के) तीन प्रकार से उदित स्थूल, सूक्ष्म और पर रूपों की मैं तो अवश्य स्तुति करके ही रहूँगा, (क्योंकि) आत्म-विद्या की प्राप्ति का उपाय ज्ञानियों ने अविद्या ही को कहा है ॥११॥

---

११ * चित्सूर्य के स्थूल, सूक्ष्म और पर— ये तीन रूप कहे जाते हैं। इसका स्थूल रूप वही है, जो बाह्य सूर्य का है। इस का सूक्ष्म रूप वही है, जो ब्रह्म-नाडी का है, जिस का योगी-जन ही अनुभव करते हैं। इस का पर रूप वही है जो समाधि और व्युत्थान के भेद से परे है और जो बाह्य तथा आन्तरिक जगत में एक जैसा रहता है। इसका अनुभव भी योगी ही करते हैं।

११ † स्तोत्रकार ने यहां 'अविद्या से ही विद्या की प्राप्ति होती है,' इस कथन की ओर संकेत किया है। वास्तव में अभिप्राय यह है कि होम, जप और हवन आदि जितने भी ईश्वर की प्राप्ति के साधन हैं, वे सभी अविद्या के अन्तर्गत ही हैं, क्योंकि ऐसे साधनों का प्रयोग करने से

*योऽनाद्यन्तोऽप्यतनुरगुणोऽणोरणीयान्महीया-
न्विश्वाकारः सगुण† इति वा कल्पनाकल्पिताङ्गः ।
नानाभूत*प्रकृतिविकृतीर्दर्शयन्भाति यो वा
तस्मै तस्मै भवतु परमादित्य नित्यं नमस्ते ॥१२॥

हे परम-आदित्य ! यः (भवान्) अन्-आदि-अन्तः अपि अतनुः अगुणः अणोः अणीयान् महीयान् विश्व-आकारः सगुणः इति वा कल्पना-कल्पित-अङ्गः (अस्ति), यः वा नाना-भूत-प्रकृति-विकृतीः दर्शयन् भाति, तस्मै तस्मै (नाना-रूप-धारिणे) ते नित्यं नमः भवतु ॥१२॥

हे महान् सूर्य ! आप आदि और अन्त से रहित, शरीर के सम्पर्क से रहित, (सत्त्व आदि) गुणों से भिन्न, सूक्ष्म से सूक्ष्म, (महान् से) महान्, विश्वाकार और (सर्वज्ञता आदि) गुणों से युक्त हैं ! इस प्रकार कल्पना के आधार पर आप का स्वरूप (भक्तों ने) निश्चित किया है। आप अनेक प्रकार के प्राणियों की प्रकृति तथा विकृति को दिखाते हुए (चारों ओर) दृष्टिगोचर होते हैं। (इस प्रकार से विद्यमान) आप के ही स्वरूप को नित्य नमस्कार हो ॥१२॥

ईश्वर तथा जीव में परस्पर भेद देखा जाता है। पर अन्त में इन्हीं साधनों के द्वारा तो ईश्वर-प्राप्ति होती है। अतः स्पष्ट ही है कि अविद्या से ही विद्या की प्राप्ति होती है।

१२ * इस श्लोक में दिनपति भगवान् की परिपूर्णता तथा अनवच्छिन्नता दिखाई गई है। 'परिपूर्णता' से युक्त उसे कह सकते हैं, जो परिपूर्ण तथा अपूर्ण दोनों ही हो। जो केवल परिपूर्ण हो और अपूर्ण न हो, उस को परिपूर्ण नहीं कह सकते हैं। परिपूर्णता तथा अनवच्छिन्नता परमात्मा की विश्वाकारता में ही लागू हो सकती है। इस लिए स्तोत्रकार

तत्त्वाख्याने त्वयि मुनिजनाः नेति नेति ब्रुवन्तः
श्रान्ताः सम्यक्त्वमिति न च तैरीदृशो वेति चोक्तः ।
तस्मात्तुभ्यं *नम इति वचोमात्रमेवास्मि वच्मि
प्रायो यस्मात्प्रसरति तरां भारती ज्ञानगर्भा ॥१३॥

मुनि-जनाः त्वयि तत्त्व-आख्याने 'नेति नेति' ब्रुवन्तः श्रान्ताः (भवन्ति)। ईदृशः वा त्वम् (असि) इति च तैः सम्यक् न उक्तः। तस्मात् 'तुभ्यं नमः' इति वचः-मात्रम् एव वच्मि अस्मि, यस्मात् प्रायः (त्वद्-विषया) भारती ज्ञान-गर्भा (सती) तरां प्रसरति ॥१३॥

मुनिजन तेरे स्वरूप के विषय में 'नेति नेति' शब्द कहते हुए (व्यर्थ ही) थकते हैं। 'आप का स्वरूप इस प्रकार का है,' ऐसा भी वे निश्चित रूप से नहीं कहते। अतः मैं 'तुझे नमस्कार हो' इस वाणी मात्र का ही अवलम्बन करता हूँ, क्योंकि यह वाणी यदा तदा (आप के अनुग्रह से) ज्ञान-गर्भित होकर ही प्रसार करती है अर्थात् सफल होती है ॥१३॥

ने स्थूल, सूक्ष्म, निर्गुण और सगुण आदि जगद्रूपता से ही प्रभु परमादित्य की स्तुति की है।

१२ † ईश्वर के सर्वज्ञता आदि गुण ये हैं,—सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि-बोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तिता और अनन्तशक्तिता।

१२ * यहां प्राणियों की प्रकृति से उन के कारणों का अभिप्राय है और उन की विकृति का अर्थ है, उन के कार्य।

१३ * परमात्मा के विषय में तर्कात्मिका बुद्धि अकिंचित्कर है। इसी लिए कवि ने पूर्व ऋषियों के वैज्ञानिक विचारों को एकदम ही तिलाञ्जलि दी है और केवल 'नमस्कार' अर्थात् आत्म-समर्पण

सर्वाङ्गीणः सकलवपुषामन्तरे योऽन्तरात्मा
तिष्ठन्काष्ठे दहन इव नो *दृश्यसे युक्तिशून्यैः ।
यश्च प्राणारणिषु नियतैर्मथ्यमानासु सद्भि-
र्दृश्यं ज्योतिर्भवसि परमादित्य तस्मै नमस्ते ॥१४॥

हे परम-आदित्य! सकल-वपुषाम् अन्तरे यः अन्तर्-आत्मा सर्वाङ्गीणः तिष्ठन् (अस्ति), (सः त्वं) युक्ति-शून्यैः (जनैः) काष्ठे दहनः इव नो दृश्यसे । मथ्यमानासु प्राण-अरणिषु नियतैः (अभ्यास-रतैः) सद्भिः यः च ज्योतिः दृश्यं भवसि तस्मै ते नमः ॥१४॥

हे (चित् रूपी) सूर्य ! सारे प्राणियों के हृदय में जो अन्तरात्मा सर्वाङ्गीण बन कर ठहरी हुई है, वही तुम युक्तिशून्य (मूर्ख-जनों) को अरणि काष्ठ में (छिपी हुई) अग्नि की भाँति दिखाई नहीं देते। सज्जनों को जो तुम्हारा अलौकिक प्रकाश प्राण रूपी अरणि-काष्ठ को मथते (और सुलगाते) समय दिखाई देता है, उसी प्रकाश-स्वरूप तुम को नमस्कार हो ॥१४॥

के द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति सुलभ मानी है। वैज्ञानिक विचारों से तो आत्म-प्राप्ति के स्थान पर आत्माभिमान की ही वृद्धि होती है, पर आत्म-समर्पण करने से तो प्राणी शीघ्र ही ईश्वर के अन्तस्तल में सदा के लिए स्थान बना लेता है।

१४ * क्या कारण है कि परमात्मा सभी प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ भी दृष्टिगोचर नहीं होता ? इस प्रश्न का समाधान यों हो सकता है कि ईश्वर का स्वरूप अत्यन्त निर्मल होने के कारण ही दिखाई नहीं देता। एक शैव आचार्य ने कहा है —

'माणिक्यप्रवेक इव निचोलितो निजमयूखलेखया ।
प्रतिभाति लौकिकानामत्यन्तस्फुटोऽप्यस्फुटआत्मा ॥' (म० ३०)

*स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति भवान्कर्तृकर्मक्रियात्मा
क्रीडत्येकस्तव नुतिविधावस्वतन्त्रस्ततोऽहम् ।
यद्वा वच्मि प्रणयसुभगं गोपते तच्च तथ्यं
त्वत्तो ह्यन्यत्किमिव जगतां विद्यते तन्मृषा स्यात् ॥१५॥

हे गोपते ! भवान् कर्तृ-कर्म-क्रिया-आत्मा (एवं) स्तोता स्तुत्यः स्तुतिः इति एकः क्रीडति । ततः अहं तव नुति-विधौ अस्वतन्त्रः (अस्मि) । यद्वा (अहं) प्रणय-सुभगं (किञ्चित्) वच्मि, तत् च (अपि) तथ्यम् । हि जगतां (मध्ये) त्वत्तः अन्यत् इव किं विद्यते । (यदि किञ्चित् अस्ति) तत् मृषा स्यात् ॥१५॥

हे चित् रूपी आदित्य ! आप एक ही कर्ता, कर्म और क्रिया का रूप बन कर स्तुति करने वाले, स्तुति-देवता और स्तुति के रूप में क्रीड़ा करते हैं। इस कारण से मैं आप की स्तुति करने में असमर्थ हूँ। मैं अब प्रेम-भाव से जो कुछ भी विनती करूं, उसे (आप) ठीक ही (समझें)। क्या तीनों लोकों में आप से भिन्न कोई वस्तु हो सकती है ? (कदापि नहीं)। ऐसा (कहना) तो (आकाश में फूल के होने के समान) असत्य है ॥१५॥

अर्थात् माणिक्य आदि रत्न अपनी अति निर्मल किरणों की छटा से आच्छादित होने के कारण दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार आत्मा समस्त संसार को अपने उद्दीप्त तथा प्रज्वलित प्रकाश की झलक से प्रकाशित करके भी और अति स्वच्छ होने के कारण स्फुट होने पर भी अस्फुट ही है।

इस के अत्युत योगी-जन इस कारण से ईश्वर का अनुभव करते

ज्ञानं नान्तःकरणरहितं विद्यतेऽस्मद्विधानां
त्वं चात्यन्तं सकलकरणागोचरत्वादचिन्त्यः ।
ध्यानातीतस्त्वमिति न विना *भक्तियोगेन लभ्य-
स्तस्माद्भक्तिं शरणममृतप्राप्तयेऽहं प्रपन्नः ॥१६॥

अस्मद्-विधानां ज्ञानम् अन्तःकरण-रहितं न विद्यते। त्वं च सकल-करण-अगोचरत्वात् अत्यन्तम् अचिन्त्यः (असि)। त्वं ध्यान-अतीतः इति भक्ति-योगेन विना न लभ्यः (असि)। तस्मात् अहम् अमृत-प्राप्तये भक्तिम् (एव) शरणं प्रपन्नः (अस्मि) ॥१६॥

हम जैसे (अल्पज्ञ) लोगों का ज्ञान अन्तःकरण से रहित होकर ठहर ही नहीं सकता, (अर्थात् मनुष्य का ज्ञान इन्द्रियों पर ही अवलम्बित है)। आप सभी इन्द्रियों से अगोचर होने के कारण अत्यन्त अचिन्त्य हैं, (अर्थात् आप अन्तःकरण के द्वारा जाने ही नहीं जा सकते)। आप ध्यान से परे हैं, (अर्थात् आप का ध्यान भी नहीं किया जा सकता)। इस लिए भक्ति-योग के बिना आप प्राप्त नहीं हो सकते। अतः मैं (मोक्ष रूपी) अमृत की प्राप्ति के लिए (आप की) भक्ति की ही शरण में जाता हूं, (अर्थात् आप को भक्ति के द्वारा ही रिझाता हूँ) ॥१६॥

है कि वे अपने अन्तःकरणों को प्राणायाम आदि साधनों से ईश्वर की भान्ति निर्मल बना कर अन्त में उसी में लय हो जाते हैं।

१५* ईश्वर वस्तुतः स्तुति-कर्त्ता, स्तुति-देवता और स्तुति के रूप में ठहरा हुआ है। इसी लिए कवि उस की स्तुति करने में अपने आप को असमर्थ समझता है, पर तो भी वह उस की स्तुति कर रहा है। इस का भी यही कारण है कि ईश्वर स्वयं स्तुति-कर्ता आदि के रूप में ठहरा हुआ है और यह अपने आप को उस से

*हार्दं हन्ति प्रथममुदिता या तमः संश्रितानां
सत्त्वोद्रेकात्तदनु च रजः कर्मयोगक्रमेण ।
स्वभ्यस्ता च प्रथयतितरां सत्त्वमेव प्रपन्ना
निर्वाणाय व्रजति शमिनां तेऽर्क भक्तिस्त्रयीव ॥१७॥

हे अर्क ! या ते भक्तिः उदिता (सती) प्रथमं संश्रितानां हार्दं तमः हन्ति, तदनु च सत्त्व-उद्रेकात् कर्म-योग-क्रमेण रजः (हन्ति), स्वभ्यस्ता च (सती) सत्त्वम् एव तरां प्रथयति, (एवं सा ते भक्तिः) प्रपन्ना (सती) शमिनां त्रयी इव निर्वाणाय व्रजति ॥१७॥

हे सूर्य ! आप की उदित हुई भक्ति पहले भक्तों के तमोगुण रूपी हार्दिक अन्धकार को नष्ट करती है। फिर (वह) सत्त्वगुण की अधिकता के कारण कर्मयोग द्वारा (उनके) रजोगुण को नष्ट-भ्रष्ट करती है। (तत्पश्चात्) भली भान्ति अभ्यस्त की गई (वह भक्ति) सत्त्व-गुण को ही बढ़ाती है। वही अवलम्बित की गई आप की भक्ति शान्तात्मा जनों को, तीन वेदों की भान्ति, मोक्ष दिलाती है ॥१७॥

अभिन्न ही मानता है। फिर भला उसकी स्तुति क्यों न करे।

१६* इस श्लोक में भक्ति-योग का वास्तविक संकेत आत्म-समर्पण की ओर है, क्योंकि आत्म-समर्पण करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। इस बात को न जान कर कई योगी-जन ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये व्यर्थ ही अपने पुरुषार्थ का अभिमान करते हैं।

१७* इस श्लोक में तमोगुण और रजोगुण आन्तरिक अपवित्रता और बाहरी अपवित्रता की ओर संकेत करते हैं।

*तामासाद्य श्रियमिव गृहे कामधेनुं प्रवासे
ध्वान्ते भातिं धृतिमिव वने योजने ब्रह्मनाडिम् ।
नावं चास्मिन्विषमविषयग्राहसंसारसिन्धौ
गच्छेयं ते परममृतं यत्र शीतं न चोष्णम् ॥१८॥

(अहं) तां (भक्ति) गृहे श्रियम् इव, प्रवासे कामधेनुम् इव, ध्वान्ते भातिम् इव, वने धृतिम् इव, योजने ब्रह्मनाडिम् इव अस्मिन् विषम-विषय-ग्राह-संसार-सिन्धौ च नावम् इव, आसाद्य ते परमम् अमृतं गच्छेयं यत् न शीतं न च उष्णं (भवति) ॥१८॥

(आप की भक्ति) घर में लक्ष्मी की भान्ति, विदेश में कामधेनु की नाईं, (घने) अन्धकार में प्रकाश की झलक जैसी, जंगल में धैर्य के समान, परमात्मा से मिलाने में सुषुम्णा नाड़ी के तुल्य और भयंकर विषय रूपी ग्राहों से युक्त इस संसार-सागर में नौका के समान है। उसी (भक्ति) का आश्रय लेकर मैं आप के (उस) परम अमृत को प्राप्त हो जाऊं, जो शीतोष्ण-भाव से रहित है ॥१८॥

---

१८ * इस श्लोक में कवि ने भक्ति का सर्वतोमुखी महत्व दिखलाने के लिए इस की कई सुन्दर उपमायें दी हैं। इसे (अर्थात् भक्ति को) शून्य गृह में लक्ष्मी के समान कहा गया है, क्योंकि यह प्रत्येक प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करती है। यह विचार-मात्र से ही शीघ्र फल देती है, इसलिए यह विदेश में कामधेनु के समान है। यह सूर्य आदि तेजधारियों के प्रकाश की भी प्रकाशिका होने के कारण प्रभा के समान है। यह वन में धैर्य के तुल्य है, क्योंकि इस से विश्रान्ति मिलती है। यह भक्त को परम-शिव से मिलाती है इस लिए सुषुम्णा नाड़ी जैसी है। यह इस असार संसार-सागर के पार जाने में सहायता देती है अतः इसे नौका के समान कहा गया है।

अग्नीषोमावखिलजगतः कारणं तौ मयूखैः
सर्गादाने सृजसि भगवन्ह्रासवृद्धिक्रमेण ।
तावेवान्तर्विषुवति* समौ जुह्वतामात्मवह्नौ
द्वावप्यस्तं नयसि युगपन्मुक्तये भक्तिभाजाम् ॥१९॥

हे भगवन् ! (त्वम्) अखिल-जगतः कारणं तौ अग्नि-सोमौ मयूखैः ह्रास-वृद्धि-क्रमेण सर्गादाने (सर्ग-आदान-निमित्तं) सृजसि। (तथा) अन्तर् विषुवति आत्म-वह्नौ समौ जुह्वतां भक्ति-भाजां मुक्तये तौ द्वौ अपि एव युगपत् अस्तं नयसि ॥१९॥

हे भगवन् ! प्राण और अपान सारे जगत के कारण हैं। आप इन को (अपनी चिद्रूप) किरणों के द्वारा घटाने और बढ़ाने के क्रम से बाहर निकालने और भीतर ले जाने के निमित्त उत्पन्न करते हैं। भक्त-जन इन को हृदयाकाश में प्रवर्तित विषुवत्कालात्मक' आत्माग्नि में साम्य भाव से समर्पित करते हैं। फिर उन भक्तों को मुक्ति दिलाने के लिए आप इन दोनों (अर्थात् प्राण और अपान) को एक ही समय में लय करते है, (जिस के फल-स्वरूप वे भक्त आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं) ॥१९॥

---

१९ * जिस हृदयाकाश से प्राणों की वृत्ति बाहर निकलती है, अर्थात् जहां से श्वास बाहर आना प्रारम्भ करता है, उसे अन्तःत्रुटि कहते हैं। जिस बाहिरी आकाश से अपान-वृत्ति भीतर जाने का प्रयत्न करती है, उसे बाह्य-त्रुटि कहते हैं। अन्तःत्रुटि और बाह्य-त्रुटि का जो समय-विशेष है, उसे 'विषुवत् कालांश' कहते हैं। योगी-जन इस का अवलम्बन करने पर समस्त संसार की वृत्तियों को लय करते हैं।

स्थूलत्वं ते प्रकृतिगहनं नैव लक्ष्यं ह्यनन्तं
सूक्ष्मत्वं वा तदपि सदसद्व्यक्त्यभावादचिन्त्यम् ।
ध्यायामीत्थं कथमविदितं त्वामनाद्यन्तमन्त-
स्तस्मादर्क प्रणयिनि मयि स्वात्मनैव* प्रसीद ॥२०॥

हे अर्क ! ते स्थूलत्वं प्रकृति-गहनम्, हि अनन्तं नैव लक्ष्यम् । (यत्) वा (ते) सूक्ष्मत्वं, तत् अपि सत्-असत्-व्यक्ति-अभावात् अचिन्त्यम् (अस्ति) । इत्थम् अन्-आदि-अन्तम् अविदितं त्वां कथम् अन्तर् ध्यायामि । तस्मात् प्रणयिनि मयि स्वात्मना एव प्रसीद ॥२०॥

हे सूर्य भगवान् ! आपकी स्थूलता स्वाभाविक रूप से ही गूढ़ अर्थात् अगम्य है, क्योंकि (यह) अनन्त होने के कारण अदृश्य है। (आप के स्वरूप की) जो सूक्ष्मता है, वह भी सद्व्यक्ति और असद्व्यक्ति (अर्थात् साकार और निराकार रूप) से परे होने के कारण अचिन्त्य है। इस प्रकार मैं आप के आदि और अन्त से रहित तथा (सर्वथा) अज्ञात स्वरूप का ध्यान हृदय में कैसे कर सकूं ? इस लिए प्रार्थना करने वाले मुझ पर आप स्वयं प्रसन्न हो जायें ॥२०॥

यत्तद्वेद्यं किमपि परमं शब्दतत्त्वं, त्वमन्त-
स्तत्सद्व्यक्तिं जिगमिषु शनैर्लाति *मात्रा कलाः खे ।
अव्यक्तेन प्रणववपुषा बिन्दुनादोदितं स-
च्छब्दब्रह्मोच्चरति करणव्यञ्जितं वाचकं ते ॥२१॥

२०* वास्तव में यह कथन अक्षरशः सत्य है कि ईश्वर ही यदि किसी पर स्वयं प्रसन्न हों, तभी उस को प्राप्ति सुलभ हो सकती है। उस के अनुग्रह के बिना मानवीय पुरुषकार सीमित होने के कारण सर्वथा व्यर्थ तथा अकिञ्चित्कर है।

यत् किमपि त्वम्, तत्-अन्तर् परमं शब्द-तत्त्वं वेद्यम् । तत् सत्-व्यक्ति जिगमिषु मात्रा-कलाः अव्यक्तेन प्रणव-वपुषा खे, शनैः लाति । (ततोऽपि) बिन्दु - नाद-उदितं करण-व्यञ्जितं ते वाचकं, सत्-शब्द-ब्रह्म (स्वयम्) उच्चरति ॥२१॥

'परा वाणी के रूप में, (वर्णों आदि के विभाग से रहित) जो आप का असामान्य और उत्कृष्ट स्वरूप है, उस के अन्तर्गत शब्द-तत्त्व (अर्थात् समस्त शब्दों का उदय-स्थान) जानने योग्य है। वह (शब्द-तत्त्व) सद्व्यक्ति (अर्थात् साकारता) को ग्रहण करने की इच्छा करता है। (फिर वह) चिदाकाश में ही (अकार आदि) मात्रा रूपिणी कलाओं अर्थात् शक्तियों को अव्यक्त ओंकार (अर्थात् पश्यन्ती वाणी) के रूप में धीरे धीरे ग्रहण करता है। (और) बिन्दु-नाद (अर्थात् प्रकाश और विमर्श) से निकला हुआ, दिव्य-करण-बन्ध से प्रकट बना हुआ और आप के स्वरूप का बोधक सत्-शब्द-ब्रह्म स्वयं उच्चरित होता है ॥२१॥

२१* अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता ।
उन्मना तु ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ॥

अकार, उकार, मकार बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना—प्रणव की इन ग्यारह मात्राओं को जब योगी चिदाकाश में लय करता है, तब उस की 'उन्मना' नामक बारहवीं मात्रा अव्यक्त ओंकार के रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था का अनुभव योगी-जन 'दिव्य-करण-बन्ध' से भली भांति कर सकते है। 'दिव्य-करण-बन्ध' किसे कहते हैं, इस का निर्णय पचासवें श्लोक की टीका में किया जाएगा। इन ग्यारह मात्राओं का अर्थ विस्तार-भय से नहीं लिखा जाता है।

प्रातःसंध्यारुणकिरणभाग्ऋङ्मयं राजसं य-
न्मध्ये चापि ज्वलदिव यजुः शुक्लभाः सात्त्विकं वा ।
सायं सामास्तमितकिरणं यत्तमोल्लासि रूपं
साह्नः सर्गस्थितिलयविधावाकृतिस्ते त्रयीव ॥२२॥

प्रातः-संध्या-अरुण-किरण-भाक् ऋङ्मयं यत् ते राजसं रूपम्, मध्ये च अपि ज्वलत् इव शुक्ल-भाः यजुः (यत् ते) सात्त्विकं (रूपम्) सायम् अस्तमित-किरणं साम यत् वा ते तम-उल्लासि-रूपम् (अस्ति), सा ते अह्नः आकृतिः (जगतः) सर्गस्थिति-लय-विधौ त्रयी (अस्ति) इव ॥२२॥

प्रातःकालिक संध्या की लालिमा से युक्त किरणों को धारण करने वाला जो आप का ऋग्वेद-मय राजस रूप है, मध्याह्न-काल की प्रज्वलित और श्वेत किरणों से युक्त जो आप का यजुर्वेद-मय सात्त्विक (रूप है) और अस्ताचल की ओर प्रयाण करती हुई सायं-कालीन किरणों से युक्त जो आप का साम-वेद-मय तामस (रूप) है, वही (अर्थात् इन तीनों रूपों को धारण करने वाली) आप की दिन रूपिणी मूर्ति सारे संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार करने में वेद-त्रयी के समान है ॥२२॥

---

२२ * वास्तव में जिन तीन संध्याओं का यहां उल्लेख हुआ है, वे आन्तरिक संध्यायें ही हैं। इन का बोध गुरु-मुख से ही भली भान्ति हो सकता है। तथापि इन के विषय में केवल सांकेतिक रूप में कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं :—

प्राण रूपी दिन में तुरीय-रूप आकृति के तीन निर्विकल्प-स्थान लक्ष्य करने योग्य हैं। वे हृदय, तालु और बाह्य-द्वादशान्त में स्थित होते हैं। जब यह (अर्थात् प्राण रूपी दिन में तुरीय-रूप आकृति) हृदय के स्थान-विशेष से प्रस्थान करती है, तो उस समय-विशेष को 'प्राभातिक संध्या' कहते हैं। जब यह तालु के स्थान में से निकलती है तो उस समय-विशेष को 'माध्याह्निक संध्या' कहते हैं। और जब यह बाह्य-द्वादशान्त के स्थान को पहुंचती है, तो उस समय-विशेष को 'सायं-कालीन संध्या' कहते हैं।

ये *पातालोदधिमुनिनगद्वीपलोकाधिबीज-
च्छन्दोभूतस्वरमुखनदत्सप्तसप्तिं प्रपन्नाः ।
ये चैकाश्वं निरवयववाग्भावमात्राधिरूढं
ते त्वामेव स्वरगुणकलावर्जितं यान्त्यनश्वम् † ॥२३॥

ये पाताल-उदधि-मुनि-नग-द्वीप-लोक-आदि-बीज-च्छन्दस्-भूत-स्वर-मुख-नदत् सप्त-सप्तिं प्रपन्नाः, ये च निर्-अवयव-वाग्-भाव-मात्र-आधिरूढम् एक-अश्वं (त्वां प्रपन्नाः), ते स्वर-गुण-कला-वर्जितम् अन् - अश्वं त्वाम् एव यान्ति ॥२३॥

जो लोग (अतल आदि सात) पातालों, (क्षीर आदि सात) समुद्रों, (अत्रि आदि सात) ऋषियों, (महेन्द्र आदि सात) पर्वतों, (जम्बु आदि सात) द्वीपों, (भूः आदि सात) लोकों, (मोह आदि सात) आधियों, (जी आदि सात) बीजों, (गायत्री आदि सात) छन्दों और (षड्ज आदि सात) स्वरों से शब्दायमान बने हुए आप के (पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि रूपी) सात घोड़ों वाले स्वरूप (अर्थात् चित्सूर्य के साकार रूप) की शरण में जाते हैं और जो अवयवों से रहित 'पश्यन्ती' वाणी में स्थित और एक ही घोडे से युक्त

---

२३ * सात पातालों, समुद्रों आदि के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

१. पद्मपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये हैं :-
अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, और पाताल।
विष्णुपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये हैं —
अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान्, महातल, सुतल और पाताल।

आप के स्वरूप (अर्थात् निराकार रूप) का आश्रय लेते हैं, वे दोनों (प्रकार के लोग) घोड़ों की उपाधि से रहित तथा स्वरों, गुणों और कलाओं से मुक्त आप के स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

अग्निपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये हैं:—
अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमान्, महातल, रसातल और पाताल।

२. सात समुद्रों के नाम ये हैं:—
क्षीर, दधि, सर्पि, इक्षुरस, मदिरा, स्वादघू और क्षार।

३. शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार सात ऋषियों के नाम ये हैं:—
गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, यमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि।
महाभारत के अनुसार सात ऋषियों के नाम ये हैं:—
अत्रि, मरीची, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ।

४. सात पर्वतों के नाम ये हैं:—
महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, ऋक्ष, विन्ध्य और पारिपात्र।

५. सात द्वीपों के नाम ये हैं:—
जम्बु, कुश, शाक, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेध, और पुष्कर।

६. सात लोकों के नाम ये हैं:—
भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक।

७. सात आधियों के नाम ये हैं:—
मोह, मद, गर्व, विषाद, क्रोध, भय और हर्ष।

८. सात बीजों के नाम ये हैं:—
जौ, शाली, माष, तिल, मूँग, कनक, और मसूर।

९. सात छन्दों के नाम ये हैं:—
गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती।

१०. सात स्वरों के नाम ये हैं:—
षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।

२३। यहां यह विरोधाभास दिखाया गया है कि चित्सूर्य का भक्त उस के घोड़ों से युक्त रूप की शरण में जाने से उस के अश्व-रहित रूप को प्राप्त होता है, अर्थात् अश्वता का भजन करने से अनश्वता को प्राप्त होता है। उस की भक्ति के फल की इसी अलौकिकता की ओर यहां संकेत है।

दिव्यं ज्योतिःसलिलपवनैः पूरयित्वा त्रिलोकी-
मेकीभूतं पुनरपि च तत्सारमादाय गोभिः।
अन्तर्लीनो विशसि वसुधां तद्गतः सूयसेऽन्नं
तच्च प्राणांस्त्वमिति जगतां*प्राणभृत्सूर्य आत्मा ॥२४॥

(हे भानो! त्वं) त्रिलोकीं ज्योतिः-सलिल-पवनैः पूरयित्वा, एकी-भूतं तत् दिव्यं सारं गोभिः आदाय, पुनर् अपि अन्तर्-लीनः (भूत्वा), वसुधां विशसि। (ततः) तत्-गतः (सन्) अन्नं सूयसे, तत् च (अन्नं) प्राणान् (सूयते), इति त्वं जगतां प्राण-भृत् सूर्यः आत्मा (असि) ॥२४॥

(हे चित्-सूर्य!) आप तीनों लोकों को अग्नि, जल और वायु से तृप्त करते हैं। (फिर उन के) एकत्रित हुए अलौकिक सार को चिद्रश्मियों के द्वारा ग्रहण करके तथा अन्तर्मुख होकर (परा भूमि रूपिणी) पृथ्वी में प्रवेश करते हैं। उस में प्रविष्ट होकर आप (आनन्द रूपी) अन्न को उत्पन्न करते हैं। वह अन्न प्राणों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार आप सारे जगत के प्राण-पोषक, सूर्य और परमात्मा (कहलाये जाने योग्य हैं) ॥२४॥

२४* बाह्य सूर्य भी आत्मिक सूर्य की भान्ति 'भूर्भुवःस्वः' नामक तीनों लोकों को समय समय पर प्रकाश (अर्थात् अग्नि), जल तथा वायु के द्वारा तृप्त करता है। तदनन्तर इन से एकत्रित हुए रसरूप सार को ग्रीष्म-आदि ऋतुओं में अपनी किरणों के द्वारा पृथ्वी से आकर्षित करता है और वर्षा के रूप में उस रस को भूमि पर बहा कर अन्न आदि खाद्य पदार्थों से प्राणि-मात्र की रक्षा करता है। अतः बाह्य सूर्य को भी 'प्राण-पोषक' की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

*अग्नीषोमौ प्रकृतिपुरुषौ बिन्दुनादौ च नित्यौ
प्राणापानावपि दिननिशे ये च सत्यानृते द्वे ।
धर्माधर्मौ सदसदुभयं योऽन्तरावेश्य योगी
वर्तेतात्मन्युपरतमतिर्निर्गुणं त्वां विशेत्सः ॥२५॥

(हे अर्क ! यौ) नित्यौ अग्नि-सोमौ, प्रकृति-पुरुषौ, बिन्दु-नादौ, प्राण-अपानौ, धर्म-अधर्मौ च, (तथा) ये द्वे सत्य-अनृते दिन-निशे च (भवतः, तौ एवं) सत्-असत् उभयं च अन्तर् आवेश्य, यः योगी उपरत-मतिः (सन्) आत्मनि वर्तेत, सः त्वां निर्गुणं विशेत् (एव) ॥२५॥

(हे चित्-सूर्य ! समस्त-संसार में) सदा व्याप्त होने वाले अग्नि-चन्द्रमा, प्रकृति-पुरुष, बिन्दु-नाद, प्राण-अपान, दिन-रात, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म और सत्-असत् आदि जितने भी द्वन्द्व हैं, उन्हें जो योगी अपने हृदय में प्रविष्ट अर्थात् लय करके तथा (उन द्वन्द्वों से) निवृत्त होकर आत्मानन्द में ठहरता है, वही आपके निर्गुण (अर्थात् गुणातीत) स्वरूप में (भली-भान्ति) प्रवेश करता है ॥२५॥

गर्भाधानप्रसवविधये सुप्तयोरिन्दुभासा
सापत्न्येनाभिमुखमिव खे कान्तयोर्मध्यसंस्थः ।
*द्यावापृथ्व्योर्वदनकमले †गोमुखैर्बोधयित्वा
पर्यायेणापिबसि ‡भगवन्षड्रसास्वादलोलः ॥२६॥

२५ * 'अग्नीषोम' से लेकर 'सदसत्' तक जितने भी द्वन्द्व इस श्लोक में कहे गये है, उन से समस्त संसार में विद्यमान द्वन्द्वों का उपलक्षण किया जाता है। अभिप्राय यह है कि सभी सांसारिक द्वन्द्वों के मध्य में ठहरा हुआ ईश्वर सारे संसार का आधार बना हुआ है।

हे भगवन् ! (त्वं) षट्-रस-आस्वाद-लोलः मध्य-संस्थः सापत्न्येन अभिमुखम् इव (कृत्वा) इन्दु-भासा खे सुप्तयोः कान्तयोः द्यावापृथ्व्योः वदन-कमले गो-मुखैः बोधयित्वा गर्भ-आधान-प्रसव-विधये पर्यायेण आ पिबसि ॥२६॥

हे भगवान् ! आप 'षडानन्द' भूमियों का आस्वाद लेने के इच्छुक तथा (सारे संसार के) मध्य में ठहरे हुए हैं। आप परस्पर प्रतियोगी-भाव से प्रकट बने हुए, आकाश (अर्थात् शून्यावस्था) में सोये हुए और सुन्दर (प्राण-अपान-रूपी) आकाश और पृथ्वी के ('अन्तर्द्वादशान्त' और 'बाह्य-द्वादशान्त' में स्थित संधि-द्वयात्मक) मुख-कमलों को चिद्रश्मियों से विकसित करते हैं। (फिर आप उन्हें अपनी ही किरणों के द्वार सारे संसार के प्रवेश और प्रसर के निमित्त क्रम से पीते हैं (अर्थात् विमर्श करते हैं) ॥२६॥

*सोमं पूर्णामृतमिव चरुं तेजसा साधयित्वा
कृत्वा तेनानलमुखजगत्तर्पणं वैश्वदेवम् ।
आमावस्यं विषसमिव खे तत्कलाशेषमश्नन्
ब्रह्माण्डान्तर्गृहपतिरिव स्वात्मयागं करोषि ॥२७॥

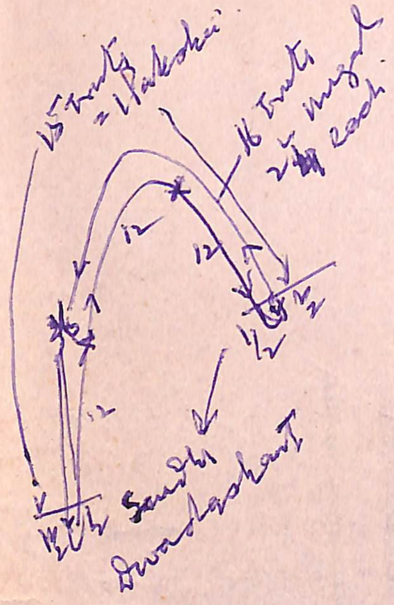
२६ * इस श्लोक में आकाश और पृथ्वी शब्दों में 'अन्तर्द्वादशान्त' और 'बाह्य-द्वादशान्त' की ओर संकेत है। इन दोनों द्वादशान्तों का निर्णय अगले श्लोक में किया जायेगा।

२६ † 'गोमुख' शब्द से चिद्रश्मियों की सूचना मिलती है।

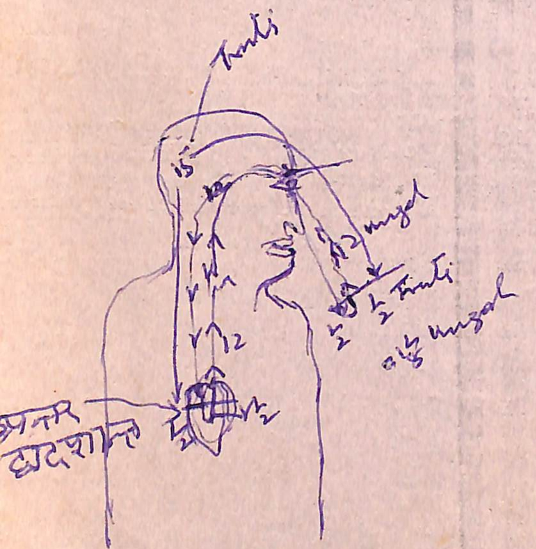
२६ ‡ षड्रसों में 'षडानन्द' भूमियों की ओर संकेत किया गया है। यथा—निजानन्द, निरानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द। ये आनन्द, की भूमियां अत्यन्त रहस्य-पूर्ण होने के कारण अवर्णनीय हैं। योगी-जन ही इनका आस्वाद लेने के लिए लालायित तथा रसिक होते हैं।

(हे भगवन् ! त्वं) तेजसा सोमं पूर्ण-अमृतं चरुम् इव साधयित्वा, तेन अनल-मुख-जगत्-तर्पणं वैश्वदेवं कृत्वा (एवम्) आमावस्यं विघसम् इव तत्-कला-शेषं खे अश्नन्, ब्रह्माण्ड-अन्तर् गृहपतिः इव स्वात्म-यागं करोषि ॥२७॥

(हे भगवान् ! आप अपने) चित्-प्रकाश से (प्राण-अपान रूपी) चन्द्रमा को पूर्णामृत से भरे हुए हव्यान्न के समान बनाते हैं। (फिर) उसी (हव्यान्न) से (उदान रूपी) अग्नि के द्वारा सारे जगत का तर्पणात्मक वैश्वदेव यज्ञ करते हैं। (इसके बाद आप प्राण और अपान की पारस्परिक संधि रूपिणी) अमावस्या की उस (द्वादशान्तात्मक) अवशिष्ट अमा-कला का, हुत-शेष की नाईं, स्वयं चिदाकाश में आस्वाद लेते हैं। (इस प्रकार) आप ब्रह्माण्ड (रूपी अपने घर) में गृहपति की भान्ति (सदा) आत्म-यज्ञ करते रहते हैं ॥२७॥



२७* आन्तरिक चन्द्रमा अपान-वायु बन कर 'बाह्य-द्वादशान्त' से भीतर की ओर सञ्चार करते करते पंद्रह त्रुटि रूपी शुक्लपक्ष के पंद्रह दिनों का उल्लङ्घन करता है। फिर हृदयाकाश में स्थित और त्रुट्यर्धांश से सीमित 'अन्तर्द्वादशान्त' पर बाह्य-चन्द्रमा की नाईं परिपूर्ण-कला से संयुक्त हो कर आन्तरिक पूर्णिमा के अमृत का आस्वाद लेता है। इसी तरह परिपूर्णता को प्राप्त हुआ भी चन्द्रमा प्राण-रूप बन कर 'अन्तर्द्वादशान्त' से प्रसारित होते हुए पंद्रह त्रुटि-रूपी कृष्णपक्ष में क्रम से क्षीण होता है और क्षीण होकर 'बाह्यद्वादशान्त' में स्थित त्रुट्यर्धांश रूपी आन्तरिक अमावस्या पर अमाकला का आस्वाद लेता है। इसी प्रकार आन्तरिक पूर्णिमा तथा आन्तरिक अमावस्या का आस्वाद लेते हुए योगी-जन वास्तविक गृहपति बन कर सदा 'आत्मयाग' का अनुभव किया करते हैं।



२७। प्राण और अपान के, हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक, चलने में ३६ अंगुलों के समान समय लगता है। सवा दो अंगुलों के समान समय को त्रुटि कहते है। हृदयाकाश और बाह्य-द्वादशान्त पर

कृत्वा *नक्तंदिनमिव जगद्बीजमाव्यक्तिकं य-
त्तत्रैवान्तर्दिनकर तथा ब्राह्ममन्यत्ततोऽल्पम् ।
दैवं पित्र्यं क्रमपरिगतं मानुषं चाल्पमल्पं
कुर्वन्कुर्वन्कलयसि जगत्पञ्चधावर्तनाभिः ॥२८॥

हे दिनकर ! यत् जगत्-बीजम् आव्यक्तिकं नक्तंदिनम् (अस्ति), तत् कृत्वा, तथा तत्रैव अन्तर् ततः अल्पं ब्राह्मं (नक्तंदिनं कृत्वा, एवम्) दैवं पित्र्यं, मानुषं च (नक्तंदिनं) क्रम-परिगतम् अल्पम् अल्पं कुर्वन् कुर्वन् पञ्चधा आवर्तनाभिः जगत् कलयसि ॥२८॥

हे (चित्स्वरूप) सूर्य ! आप (पहिले) उस प्राकृतिक दिन (अर्थात् दिन और रात के समय-विभाग) को रचते हैं, जो (सारे) जगत का कारण है। (फिर) उसी दिन के अन्दर उस से छोटे ब्रह्मा के दिन को (रच कर) देवताओं, पितरों और मनुष्यों के दिनों को रचते है, जो क्रम-पूर्वक एक दूसरे से (परिमाण में) छोटे होते हैं। (इस प्रकार आप इन) पाञ्च प्रकार के चक्करों से जगत की रचना करते है ॥२८॥

अर्थात् संधियों पर स्वाभाविक रूप से जरा ठहरने में आधी आधी त्रुटि लगती है। इस प्रकार प्राणापान को हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक सञ्चार करने में पंद्रह त्रुटियों का समय लगता है और यही पंद्रह त्रुटियां पक्ष के पंद्रह दिनों के समान मानी गई है। प्राण के हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक चलने के समय (अर्थात् पंद्रह त्रुटियों) को कृष्णपक्ष के पंद्रह दिनों के समान और अपान के बाह्य-द्वादशान्त से हृदयाकाश तक पहुँचने के समय (अर्थात् पंद्रह त्रुटियों) को शुक्ल-पक्ष के पंद्रह दिनों के समान माना गया है।

तत्त्वालोके तपन सुदिने ये परं संप्रबुद्धाः
　ये वा चित्तोपशमरजनीयोगनिद्रामुपेताः ।
*तेऽहोरात्रोपरमपरमानन्दसंध्यासु सौरं†
　भित्त्वा ज्योतिः परमपरमं यान्ति निर्वाणसंज्ञम् ॥२९॥

हे तपन ! ये (योगिनः) तत्त्व-आलोके सुदिने परं संप्रबुद्धाः, ये वा चित्त-उपशम-रजनी-योगनिद्राम् उपेताः (भवन्ति), ते अहोरात्र-उपरम-परमानन्द-संध्यासु सौरं ज्योतिः भित्त्वा परम-परमं निर्वाण-संज्ञं (पदं) यान्ति ॥२९॥

हे सूर्य ! जो (योगी-जन) आत्म-ज्ञान रूपी प्रशस्त दिन के समय पूर्ण रूप में सचेत हो जाते हैं और जो (संकल्प-विकल्पों से रहित) चित्त की शान्ति रूपिणी रात में योगनिद्रा में मग्न हो जाते हैं, वे (योगी) दिन और रात (अर्थात् प्राण और अपान) की निवृत्ति रूपी परमानन्द से पूरित संध्याओं के समय (प्राण रूपी) सूर्य के स्थूल प्रकाश को हटा कर मोक्ष नामक अति उत्तम पदवी को प्राप्त होते हैं ॥२९॥

---

२८ * स्वच्छन्द आदि बृहत् ग्रन्थों में उपरोक्त दिन-रात्रियों के विषय में निम्न-लिखित रीति से वर्णन किया गया है :—

मनुष्य-संबन्धी दिन-रात्रि तीस मुहूर्त्तों की होती है। इस रीति के अनुसार एक वर्ष में दो अयन होते हैं; उत्तरायण तथा दक्षिणायन। दक्षिणायन में पितरों तथा देवताओं की रात्रि और उत्तरायण में दिन होता है। चार हजार युगों का एक कल्प होता है, इसे ब्रह्मा का एक दिन माना जाता है। इसी रीति से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष में समाप्त होती है। ब्रह्मा की यह आयु एक प्राकृतिक दिन के समान मानी गई है। इन उपरोक्त दिन-रात्रियों की सृष्टि तथा संहृति चित्सूर्य ही किया करता है।

आब्रह्मेदं नवमिव जगज्जङ्गमस्थावरान्तं
　सर्गे सर्गे विसृजसि रवे गोभिरुद्रिक्तसौमैः ।
दीप्तैः प्रत्याहरसि च लये तद्यथायोनि भूयः
　सर्गान्तादौ प्रकटविभवां दर्शयन्रश्मिलीलाम्* ॥३०॥

हे रवे ! (त्वम्) आब्रह्म जङ्गम-स्थावर-अन्तम् इदं जगत् दीप्तैः उद्रिक्त-सौमैः गोभिः सर्गे सर्गे नवम् इव विसृजसि, (तथा) तत् (इदं जगत्) लये च यथा-योनिः भूयः प्रत्याहरसि। (एवं त्वं) सर्ग-अन्त-आदौ प्रकट-विभवां रश्मि-लीलां दर्शयन् (स्थितः असि) ॥३०॥

हे (चित्-स्वरूप) सूर्य ! आप ब्रह्मा से लेकर स्थावर और जङ्गम तक (सभी वस्तुओं से युक्त) इस (सारे) संसार को अपनी उज्ज्वल तथा अमृत-मय किरणों से प्रत्येक सृष्टिकाल में नये सिरे से उत्पन्न करते हैं। प्रलय के समय अपने कारण के अनुसार उस (जगत) को फिर संहृत करते है। (इस प्रकार) आप सृष्टि के प्रारम्भ और अंत के समय प्रकट ऐश्वर्य वाली (अपनी) चिद्रश्मियों की लीला को दिखाते है ॥३०॥

---

२९ * प्राण-अपान रूपी दिन रात के अवसान में ही आन्तरिक संध्याओं का अनुभव होता है।

२९ † सूर्य संबन्धी ज्योति प्राणों के प्रसरप्रवेशात्मक स्थूल गति की ओर ही संकेत करती है।

३० * ब्रह्मा से लेकर स्थावर, जंगम आदि वर्ग तक सभी वस्तुओं से युक्त इस सारे संसार का उत्पन्न तथा नष्ट होना ही उस पारमार्थिक सूर्य की शक्ति रूपिणी किरणों का विकास है इस लिए संसार की सृष्टि और संहृति से इस की असत्यता का विचार करना सर्वथा असंगत है।

श्रित्वा नित्योपचितमुचितं *ब्रह्मतेजः प्रकाशं
रूपं सर्गस्थितिलयमुचा सर्वभूतेषु मध्ये ।
अन्तेवासिष्विव सुगुरुणा यः परोक्षः प्रकृत्या
†प्रत्यक्षोऽसौ जगति भवता दर्शितः स्वात्मनात्मा ॥३१॥

(हे भगवन् !) सर्ग-स्थिति-लय-मुचा भवता स्वात्मना नित्य-उपचितम् उचितं ब्रह्म-तेजः-प्रकाशं रूपं श्रित्वा, सर्व-भूतेषु मध्ये अन्तेवासिषु सुगुरुणा इव असौ आत्मा जगति प्रत्यक्षः दर्शितः, यः प्रकृत्या परोक्षः (अपि अस्ति) ॥३१॥

(हे भगवान् !) आप सृष्टि, स्थिति और संहार (के चक्कर) से मुक्त हैं । (आप) सदा परिपूर्ण होने वाले, प्रशंसनीय और ब्रह्मतेज के प्रकाश से युक्त रूप का आश्रय लेते हैं और संसार के सभी प्राणियों के बीच में (अपने भक्तों को) स्वयं ही उस आत्मा का प्रत्यक्ष रूप में दर्शन कराते हैं, जो स्वभाव से ही रहस्य है, जैसे तत्त्वदर्शी गुरु (अपने) शिष्यों को कराता है ॥३१॥

---

३१ * सारे संसार में जो सब से बड़ा है और जो इस संसार को अपने प्रकाश से बढ़ाता है, उसे ब्रह्म कहते हैं ।

३१ † उपरोक्त श्लोक में कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से परोक्ष होते हुए भी भक्तों को प्रत्यक्ष रूप में दीख पड़ती है । अब यहां यह शंका उठती है कि जो वस्तु स्वभाव से ही परोक्ष हो, उस का प्रत्यक्ष होना कहां तक संभव है । इस शंका का समाधान तो यों हो सकता है कि वास्तव में भक्त-जन उस आत्मा की प्रत्यक्षता का अनुभव इन चर्म-चक्षुओं से नहीं करते, अपितु ज्ञान से ही उस के अनन्द-रस का अनुभव करते हैं । इस लिए इस श्लोक में प्रत्यक्ष शब्द का संकेत चर्म-चक्षुओं से नहीं, वरन् ज्ञान के द्वारा ही आत्मा की स्थिति का अनुभव करने की ओर है ।

लोकाः सर्वे वपुषि नियतं ते *स्थितास्त्वं च तेषा-
मेकैकस्मिन्युगपदगुणो विश्वहेतोर्गुणीव ।
इत्थंभूते भवति भगवन्न त्वदन्योऽस्मि सत्यं
किन्तु †ज्ञस्त्वं परमपुरुषोऽहं प्रकृत्यैव चाज्ञः ॥३२॥

हे भगवन् ! विश्व-हेतोः ते वपुषि सर्वे लोकाः नियतं स्थिताः । त्वं च तेषाम् एक-एकस्मिन् (रूपे) युगपत् (स्थितः, अतः त्वम्) अगुणः (अपि) गुणी इव (प्रतिभासि) । इत्थंभूते भवति (सति, अहं) न त्वद्-अन्यः अस्मि, (इदं तु) सत्यम् । किन्तु त्वं परमपुरुषः ज्ञः, अहं च प्रकृत्या एव अज्ञः (अस्मि) ॥३२॥

हे भगवान् ! आप सारे संसार के कारण हैं । आप के स्वरूप में सारे लोक (अर्थात् तीनों लोकों में होने वाले सभी जड़ और चेतन पदार्थ) सदा स्थित रहते हैं और आप उन में से प्रत्येक (के रूप) में एक ही समय पर (सदा स्थित रहते) हैं । (इस लिए आप) निर्गुण होने पर (भी) सगुण के समान हैं । जब आप ऐसे (कहे जा सकते) हैं, तो सचमुच ही मैं आप से भिन्न (कोई चीज) नहीं हूं । किन्तु (हम दोनों में भेद यही है कि) आप परमपुरुष और सर्वज्ञ हैं और मैं (आप की ही माया से प्रभावित होने के कारण) स्वाभाविक रूप से अल्पज्ञ (और मूर्ख) हूँ ॥३२॥

---

३२ * सारे ब्रह्मादि लोक ईश्वर में ठहरे हुए हैं और ईश्वर उन में ठहरा हुआ है । ये एक दूसरे से विरुद्ध दो बातें इस श्लोक में कही गई हैं । यह कथन वहीं लागू हो सकता है, जहां परस्पर सजातीय वस्तुओं का ही संबन्ध हो, अर्थात् दो विजातीय वस्तुओं में यह नियम नहीं घट सकता । घटाकाश में विस्तृत आकाश और विस्तृत आकाश में घटाकाश इसी लिए स्थित हैं, क्योंकि वे दोनों सजातीय ही हैं, अर्थात् आकाशत्व दोनों में समान ही है । अतः सिद्ध होता है कि

संकल्पेच्छाद्यखिलकरणप्राणवाण्यो वरेण्याः
संपन्ना मे त्वदभिनवनाज्जन्म चेदं शरण्यम् ।
मन्ये चास्तं *जिगमिषु शनैः पुण्यपापद्वयं त-
†द्भक्तिश्रद्धे तव चरणयोरन्यथा नो भवेताम् ॥३३॥

(हे दिनपते ! अहं) मन्ये (यत्) त्वद्-अभिनवनात् मे संकल्प - इच्छा - आदि - अखिल-करण -प्राण- वाण्यः वरेण्याः संपन्नाः । इदं (मम) जन्म च शरण्यं (संपन्नम्) । तत् (मम) पुण्य-पाप-द्वयं च (अपि) शनैः अस्तं जिगमिषु (भवति), अन्यथा तव चरणयोः भक्ति-श्रद्धे नो भवेताम् ॥३३॥

(हे सूर्य भगवान् !) मेरा विचार है कि आप की स्तुति करने के फल-स्वरूप मेरे संकल्प, इच्छायें, सभी इन्द्रियां, प्राण और वाणी आदि वरणीय बन गये हैं (अर्थात् लोकानुग्रह करने के साधन बन गये हैं)। (मेरा) यह जन्म (आर्त्तों की दुःखनिवृत्ति करने के कारण) रक्षक बन गया है। (इसके अतिरिक्त मेरे) वे (अर्थात् अनेक जन्मों में किये गये) पुण्य और पाप (रूपी कर्म) भी धीरे धीरे नष्ट होने को हैं। नहीं तो आप के चरणों की भक्ति और श्रद्धा (मुझे प्राप्त) न होती ॥३३॥

ईश्वर और जीव परस्पर सजातीय ही हैं, तभी तो जीव का ईश्वर में ठहरना और ईश्वर का जीव में स्थित होना सिद्ध हो सकता है।

३२ † कवि ने इस श्लोक में यह बात स्पष्टता से दिखाई है कि परमात्मा सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। अतः इन दोनों का आपस में महान् भेद है, पर यह भेद वास्तविक भेद नहीं है, अपितु आरोपित किया हुआ है। माया रूपी अज्ञान को हटाने से यह भेद नहीं रहता।

३३* ज्ञान-प्राप्ति के समय ज्ञानी के संचित-कर्म तथा आगामि-कर्म स्वयं दग्ध हो जाते है, पर फिर भी उसे प्रारब्ध कर्मों को जन्म भर अर्थात् देहान्त तक अवश्य भोगना पड़ता है। इसी लिए कवि ने इस श्लोक में पुण्य-पाप रूपी कर्मों को नष्ट-प्राय ही कहा है, संपूर्ण रूप से इनका नष्ट होना नहीं कहा है।

सत्यं भूयो जननमरणे त्वत्प्रपन्नेषु न स्त-
स्तत्राप्येकं तव नुतिफलं जन्म याचे तदित्थम् ।
*त्रैलोक्येशः शम इव परः पुण्यकायोऽप्ययोनिः
संसाराब्धौ प्लव इव जगत्तारणाया स्थिरः स्याम् ॥३४॥

(हे भगवन् ! इदं) सत्यं (यत्) त्वत्-प्रपन्नेषु जनन-मरणे भूयः न स्तः । तत्रापि (अहं) तव नुति-फलम् एकं जन्म याचे । तत् इत्थं (भवतु-अहं) त्रैलोक्य -ईशः परः शमः इव पुण्य-कायः अपि अयोनिः (सन्) संसार-अब्धौ जगत्-तारणाय स्थिरः प्लवः इव स्याम् ॥३४॥

(हे सूर्य भगवान् ! यह बात) सत्य है कि आप की शरण में आये हुए (भक्त-जन) जन्म-मरण (के चक्कर) से सदा के लिए छूट जाते हैं। (अतः मैं भी आप का भक्त होने से जन्म-मरण के बन्धन से सदा मुक्त हूँ) तथापि मैं आप की स्तुति के फलस्वरूप (आप से) एक और जन्म (की प्राप्ति) के लिए प्रार्थना करता हूं। वह (जन्म)

---

३३ † भक्ति तथा श्रद्धा परमात्मा की अनुग्रह-शक्ति का प्रथम चिह्न हैं। ज्ञानियों का भी कहना है—

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।'
'तत्रै तत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला'

अर्थात् परमात्मा के अनुग्रह से ही मनुष्यों के हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है। परमात्मा की अचल भक्ति का हृदय में स्वयं उत्पन्न होना ही उसके अनुग्रह का पहिला तथा मुख्य चिह्न है।

ऐसा हो कि मैं तीनों लोकों का स्वामी, सर्वश्रेष्ठ, शांति-स्वरूप, पवित्र शरीर वाला और योनि से न उत्पन्न हुआ (अर्थात् इच्छा-मात्र से ही शरीर धारण करने वाला) होते हुए (इस) संसार रूपी समुद्र में जगत (के प्राणियों) की तारने के लिए एक स्थिर नौका के समान बनूं ॥३४॥

*सौषुम्णेन त्वममृतपथेनैत्य शीतांशुभावं
पुष्णास्यग्रे सुरनरपितॄन् शान्तभाभिः कलाभिः ।
पश्चादम्भो विशसि विविधाश्चौषधीस्तद्गतोऽपि
प्रीणास्येवं त्रिभुवनमतस्ते जगन्मित्रतार्क ॥३५॥

हे अर्क ! त्वम् अमृत-पथेन सौषुम्णेन शीतांशु-भावम् एत्य अग्रे शान्त-भाभिः कलाभिः सुर-नर-पितॄन् पुष्णासि, पश्चात् अम्भः विविधाः औषधीः च विशसि । एवं तद्-गतः अपि त्रिभुवनं प्रीणासि । अतः ते जगत् मित्रता (युक्ति-युक्ता भवति ॥३५॥

हे सूर्य ! आप सुषुम्णा के अमृतमय मार्ग से चन्द्र-भाव को प्राप्त होकर पहले शान्त बनी हुई किरणों से युक्त कलाओं से देवताओं, मनुष्यों और पितरों का पालन-पोषण करते हैं। उसके बाद जल तथा नाना प्रकार की औषधियों में प्रविष्ट हो कर तीनों लोकों को सुखी बनाते हैं। इस कारण से आप की जगन्मित्रता स्पष्ट रूप में दीख पड़ती है। (अर्थात् शास्त्रों में जो 'मित्र' शब्द आप के नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है, वह वास्तव में सार्थक ही है) ॥३५॥

---

३४ * उपरोक्त श्लोक में तीनों लोकों का स्वामित्व प्राप्त करने का अभिप्राय यही है कि मैं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र बनूं अर्थात् तीनों अवस्थाओं के वैकल्पिक उपद्रवों से सदा के लिए मुक्त हो जाऊं।

३४ † 'मैं संसार-सागर में डूबे हुए प्राणी-मात्र को पार कराने में पोत का काम करूं'—इस वाक्यावली से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सच्चे भक्त लोकोद्धार करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं, क्योंकि सच्चे भक्त अपने उद्देश्य की पूर्ति के कारण कृतकृत्य बने होते हैं। अतः उन्हें लोकोद्धार करने से भिन्न अपना कोई भी प्रयोजन नहीं होता। विद्वानों ने कहा भी है—

स्वकर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारार्थ्यं प्रति घटयते काञ्चन स्वप्रवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥

अर्थात् यद्यपि संसारी मनुष्य प्रत्येक कार्य बड़े प्रयत्न से करते हैं, तो भी वह कार्य स्वार्थ पर ही अवलम्बित होता है। किन्तु जो ज्ञानी परमात्मभाव से परिपूर्ण और सांसारिक मलों से रहित होता है, उस का मुख्य कार्य लोकानुग्रह ही होता है।

३५ * इस स्थल में 'चन्द्रभाव' का तात्पर्य प्राणापानवृत्ति से है। 'देवताओं, मनुष्यों और पितरों', इन शब्दों में क्रम से सात्त्विक, राजस तथा तामस वृत्तियों की ओर संकेत है। 'जल' शब्द से पञ्चमहाभूतों का उपलक्षण होता है। अभिप्राय यह है कि सुषुम्णा नाड़ी से श्वास उत्पन्न होता है, इसे ही चन्द्र भी कहते हैं। प्राण-अपान की संधि को ही शीतल किरणों का नाम दिया जाता है। इसी संधि के द्वारा सात्त्विक, राजस तथा तामसिक वृत्तियों को पुष्टि मिलती है और उस के बाद पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इन में से जल वर्षा के रूप में औषधियों और वृक्षों आदि वस्तुओं को पुष्ट करके लोगों को सुखी बनाता है। इसी हेतु विद्वानों ने परमात्मा का जो 'जगत्-मित्र' नाम रक्खा है, वह सार्थक ही है।

इसी भान्ति बाह्य सूर्य भी सुषुम्णामार्ग से अमृतसंक्रमण

मन्दाक्रान्ते तमसि भवता नाथ दोषावसाने
नान्तर्लीना मम मतिरियं *गाढनिद्रां जहाति ।
तस्मादस्तंगमिततमसा पद्मिनीवात्मभासा
सौरीत्येषा दिनकर परं नीयतामाशु बोधम् ॥३६॥

हे नाथ ! हे दिनकर ! तमसि मन्द-आक्रान्ते दोष-अवसाने अन्तर्लीना (अपि) इयं मम मतिः गाढ-निद्रां न जहाति । तस्मात् भवता अस्तं-गमित-तमसा आत्म-भासा एषा (मम मतिः) सौरी पद्मिनी इव परं बोधम् आशु नीयताम् ॥३६॥

हे (चित् रूपी) सूर्य भगवान् ! (अज्ञान रूपी) अन्धकार तथा (विकल्पों आदि) दोषों के नष्ट होने पर अन्तर्मुख अवस्था को प्राप्त हुई (भी) मेरी यह बुद्धि (मोह रूपी) गाढ-निद्रा को नहीं त्यागती । इस लिए आप तमोगुण रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले अपने प्रकाश से सूर्य (अर्थात् आप) की भक्ति करने वाली मेरी इस बुद्धि को शीघ्र ही सच्चे ब्रह्मज्ञान से युक्त कीजिये; जैसे (लाल या नीला) कमल रात की समाप्ति तथा अन्धकार के दूर होने पर (भी) संकुचित ही रहता है और खिलने नहीं पाता, (परन्तु) बाह्य सूर्य अन्धकार को दूर करने वाली अपनी उज्ज्वल किरणों से तत्क्षण ही (अर्थात् उदय करते ही) उसे विकसित करता है ॥३६॥

करने पर चन्द्र-भाव को प्राप्त होता है और फिर चन्द्र की शान्ति-दायिनी अमाकला के द्वारा देवताओं आदि को संतुष्ट करता है । तदनन्तर वर्षा का रूप धारण करके जल में प्रविष्ट हो कर ओषधियों को उत्पन्न करता है । इस प्रकार तीनों लोकों को तृप्त कर के अपनी जगन्मित्रता प्रकट करता है ।

३६ * इस श्लोक में यह शंका उठती है कि अन्तर्मुख अवस्था को प्राप्त हो कर भी मोह रूपिणी गाढ-निद्रा को न

येन ग्रासीकृतमिव जगत्सर्वमासीत्तदस्तं
*ध्वान्तं नीत्वा पुनरपि विभो तद्दयाघ्रातचित्तः ।
धत्से नक्तंदिनमपि गती शुक्लकृष्णे विभज्य
त्राता तस्माद्भव परिभवे दुष्कृते मेऽपि भानो ॥३७॥

हे विभो ! येन (ध्वान्तेन) सर्वं जगत् ग्रासी-कृतम् असीत्, तत् ध्वान्तम् अस्तं नीत्वा, तद्-दया-आघ्रात-चित्तः शुक्ल-कृष्णे गती विभज्य पुनर् अपि तत् (अन्धकारात्मकं) नक्तंदिनं धत्से । तस्मात् हे भानो ! मे दुष्कृते परिभवे अपि त्राता भव ॥३७॥

हे व्यापक प्रभो ! जिस (अज्ञान रूपी) अन्धकार ने (इस) समस्त संसार को ग्रस्त किया है, उसे (अपने भक्तों पर दयालु होने के कारण) आप नष्ट करते हैं, (और फिर) उसी (अन्धकार) पर हृदय में दया करते हुए शुक्ल-कृष्ण-गतियों का विभाग करके (अन्धकार-मय) दिन-रात की पुनः पुष्टि करते हैं । (चूँकि आप इस तुच्छ अन्धकार पर भी कृपा करते हैं) इस लिए, हे चित्सूर्य ! (मुझे अपना भक्त समझ कर व्युत्थान अर्थात् आत्मस्थिति से अलग होना ही) जो पाप का फल है, उस क्लेश को दूर करने में आप मेरे रक्षक बनें ॥३७॥

त्यागने से क्या अभिप्राय है । इस का समाधान यों किया जा सकता है कि योगी को, समाधि की अवस्था प्राप्त होने पर भी, उस में से निकलने के उपरान्त, सांसारिक विकल्प तब तक बाधित करते ही रहते हैं, जब तक कि व्युत्थान अर्थात् जाग्रत अवस्था में भी समाधि की भान्ति ही परमात्मा के स्वरूप का अनुभव उसे न हो । फिर भला समाधि की अवस्था होते हुए भी उसे मोह आदि विकल्प क्यों न बाधित करें ।

३७ * अन्धकार शब्द में भी यहां प्राण-अपान की ओर ही संकेत है । प्राणापान को इसी लिए अन्धकार का नाम दिया गया है कि प्राणापान के होने से ही वैकल्पिक वृत्तियों की पुष्टि होती है ।

आसंसारोपचितसदसत्कर्मबन्धाश्रितानां-
*माधिव्याधिप्रजननमरणक्षुत्पिपासार्दितानाम् ।
मिथ्याज्ञानप्रबलतमसा नाथ चान्धीकृतानां
त्वं नस्त्राता भव करुणया †यत्र तत्र स्थितानाम् ॥३८॥

हे नाथ ! आ-संसार-उपचित-सत्-असत्-कर्म-बन्ध-आश्रितानाम् आधि-व्याधि-प्रजनन-मरण-क्षुध्-पिपासा-अर्दितानां मिथ्या-ज्ञान-प्रबल-तमसा अन्धीकृतानां च यत्र तत्र स्थितानां नः करुणया त्राता भव ॥३८॥

हे नाथ ! हम अनादि-काल से उपार्जित किये हुए पुण्य-पापात्मक कर्म-बन्धनों का आश्रय ले कर आधि, व्याधि, जन्म, मरण तथा भूख-प्यास से आर्त बने हुए हैं। इस के अतिरिक्त हम मिथ्याज्ञान रूपी बड़े घने अन्धकार से अन्धे बने हुए हैं। (अतः हे करुणानिधि !) हम जहां भी कहीं ठहरे हों, वहीं आप दया कर के हमारी रक्षा करें ॥३८॥

---

३७ † इस श्लोक में दिन-रात्रि से अभिप्राय प्राण-अपान का है और शुक्लात्मक तथा कृष्णात्मक गति में प्राण-अपान के घटने और बढ़ने की ओर संकेत है। बाहिरी वायु के अन्दर जाने के समय प्राण-कलाएं उसी भान्ति बढ़ती रहती है, जिस भांति शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कलाएं बढ़ती रहती हैं। इसी प्रकार भीतरी वायु के बाहिर आने के समय प्राण-कलाएं उसी भांति क्षीण होती रहती हैं, जिस भांति कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की कलाएं क्रम-पूर्वक घटती रहती हैं।

३८ * 'आधि' तथा 'व्याधि' का अर्थ क्रम से मानसिक पीड़ा और शारीरिक पीड़ा है।

३८ † अन्धकार की अधिकता से यह अभिप्राय है कि यद्यपि साधनों के द्वारा अन्धकार को नष्ट भी किया जाय, तो भी निर्व्युत्थान समाधि जब तक प्राप्त न हो, तब तक इस अन्धकार की पुनरुत्पत्ति सदा होती ही रहती है।

सत्यासत्यस्खलितवचसां *शौचलज्जोज्झितानां-
मज्ञानानामफलसफलप्रार्थनाकातराणाम् ।
सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्तकौतूहलानां
त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोलार्भकाणाम् ॥३९॥

(हे अर्क !) सत्य-असत्य-स्खलित-वचसां, शौच-लज्जा-उज्झितानाम्, अज्ञानानाम्, अफल-सफल-प्रार्थना-कातराणां-सर्वावस्थासु अखिल-विषय-अभ्यस्त-कौतूहलानां, भोग-लोल अर्भकाणां, नः त्वं पितृतया त्राता भव ॥३९॥

हे भगवान् ! सत्य तथा असत्य बोलने के कारण हमारी वाणी भ्रष्ट हुई है। हम (शारीरिक और मानसिक) शौच तथा लज्जा से रहित और अज्ञानी हैं। हम सफल और निष्फल प्रार्थना करने के कारण अधीर बने हुए हैं। हम प्रत्येक अवस्था में सभी विषयों (के भोगने) का बार बार चाव रखते हैं। (सच तो यह है कि) हम विषय-सुखों के (उपभोग के) लिए अत्यन्त उत्सुक (होने के कारण) चंचल बालकों के समान हैं। इस लिए आप (कृपा कर के) पिता की भान्ति हमारे रक्षक बनें। (अर्थात् जिस प्रकार बालक के अवगुणों पर पिता ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार आप भी हमारे अवगुणों पर तनिक भी ध्यान न दें, क्योंकि तत्व-दृष्टि से तो आप ही हमारे पिता हैं) ॥३९॥

---

३८ † 'जहां भी कहीं ठहरे हों,' इन शब्दों से लेखक का अभिप्राय यह है कि ईश्वर के स्वरूप का अनुभव करने में उसे देश, काल तथा आकार की अवच्छिन्नता न रहे।

३९ * इस श्लोक में लज्जा से रहित होने का यह अभिप्राय है कि हमें अधर्माचरण में ही लज्जा होनी चाहिये थी, पर न मालूम हम क्यों उस लज्जा को तिलाञ्जलि दे बैठे हैं।

*यावद्देहं जरयति जरा नान्तकादेत्य दूती
नो वा भीमस्त्रिफणभुजगाकारदुर्वारपाशः ।
गाढं कण्ठे लगति सहसा जीवितं लेलिहान-
स्तावद्भक्ताभयद सदयं श्रेयसे नः प्रसीद ॥४०॥

हे भक्त-अभयद ! यावत् अन्तकात् दूती जरा एत्य (मम) देहं न जरयति, यावत् च भीमः त्रि-फण-भुजग-आकार-दुर्वार-पाशः (मम) जीवितं लेलिहानः (सन्) कण्ठे सहसा गाढं न लगति, तावत् (एव) श्रेयसे सदयं नः प्रसीद ॥४०॥

हे भक्तों को अभय देने वाले (चित्-सूर्य) ! जब तक महाकाल की दूतिका वृद्धावस्था के रूप में आ कर (हमारे) शरीर को जर्जरित नहीं करेगी और जब तक उस का भयंकर, तीन फणों से युक्त सांप के आकार का और अनिवार्य पाश (हमारे) जीवन का आस्वाद लेने के लिए (हमारे) कण्ठ में एकबारगी नहीं पड़ेगा, तब तक ही (हमारे) कल्याण के लिए हम पर प्रसन्न होने की दया करें ॥४०॥

---

४० * इस श्लोक में चित्सूर्य से प्रार्थना की गई है कि जब तक मृत्यु से होने वाली दुर्दशा को हम प्राप्त न हो जायें, अर्थात् जब तक हम मृत्यु का ग्रास न बनें, तब तक ही वे अपने स्वरूप के प्रकट करने की हम पर दया करें, ताकि हमें मरने का दुःख तनिक भी बाधित न करे ।

विश्वप्राणग्रसनरसनाटोपकोपप्रगल्भं
मृत्योर्वक्त्रं दहननयनोद्दामदंष्ट्राकरालम् ।
यावद्दृष्ट्वा व्रजति न भिया पञ्चतामेष कायं-
*स्तावन्नित्यामृतमय रवे पाहि नः कान्दिशीकान् ॥४१॥

हे नित्य-अमृतमय रवे ! विश्व-प्राण-ग्रसन-रसना-आटोप-कोप-प्रगल्भं दहन-नयन-उद्दाम-दंष्ट्रा-करालं मृत्योः वक्त्रं दृष्ट्वा एषः कायः यावत् भिया पञ्चतां न व्रजति, तावत् (एव) कान्दिशीकान् नः पाहि ॥४१॥

हे नित्य-अमृतमय (चित्स्वरूप) सूर्य ! जगत के प्राणों का ग्रास करने वाली जिह्वा के फैलाव से युक्त, क्रोध से भरे हुए और जलाने वाले नेत्रों तथा बड़े प्रबल दान्तों के कारण भयंकर, महाकाल के मुख को देख कर यह (हमारा) शरीर जब तक डर के मारे मृत्यु को प्राप्त न होगा, तब तक ही आप (मृत्यु के डर से) भागते हुए हम लोगों की रक्षा करें ॥४१॥

---

४१ * यहां जिस 'नित्य-अमृत' की ओर संकेत किया गया है, वह देवताओं के सामान्य अमृत से बहुत उत्कृष्ट है । स्वर्गादि-लोकों में जो अमृत होता है, उसे खा कर देवता अमर तो बनते हैं, किन्तु उनकी यह अमरता चिरस्थायिनी नहीं होती । कुछ काल के पश्चात् वे इस अमरता से वञ्चित होते हैं । पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फंसते हैं । अतः यह अमृत अनित्य ही कहा जा सकता है । पर परमात्मा का साक्षात्कार होने से आनन्द रूपी जो अमृत प्राप्त होता है, उसका अनुभव करने पर जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा मिलता है । इसी को 'नित्य-अमृत' कहते हैं और इसी लिए परमात्मा को 'नित्य-अमृतमय' कहा गया है ।

*शब्दाकारं वियदिव वपुस्ते यजुःसामधाम्नः
सप्तच्छन्दांस्यपि च तुरगा ऋङ्मयं मण्डलं च ।
एवं सर्वश्रुतिमयतया मद्दयानुग्रहाद्वा
क्षिप्रं मत्तः कृपणकरुणाक्रन्दमाकर्णयेमम् ॥४२॥

(हे भगवन् !) ते यजुः-साम-धाम्नः शब्दाकारं वपुः (त्वद्विहारार्थं) वियत् इव (अस्ति)। सप्त छन्दांसि अपि च (ते) तुरगाः। ऋङ्मयं च ते मण्डलम्। एवं सर्व-श्रुतिमयतया, मत्-दया-अनुग्रहात् वा मत्तः इमं कृपण-करुण-आक्रन्दं क्षिप्रम् आकर्णय ॥४२॥

(हे भगवान् !) यजुर्वेदीय तथा सामवेदीय तेज का शब्दमय स्वरूप आप के (विहार के) लिए आकाश की भान्ति (ठहरा हुआ) है। (गायत्री आदि) सात छन्द (आप के) सात घोड़ों के समान हैं और आप का मण्डल ऋग्वेद की ऋचाओं का बना हुआ है। इस प्रकार सभी श्रुतियों (अर्थात् वेदों) का स्वरूप होने के कारण अथवा मुझ पर दयालु होकर अनुग्रह करने के हेतु मेरी इस क्षुद्र और करुण पुकार को शीघ्र सुन लीजिए ॥४२॥

४२ * यजुर्वेद तथा सामवेद का जो शब्दाकार स्वरूप है, उसकी उपमा आकाश से इस कारण से दी गई है कि आकाश का गुण भी शब्द ही है। इसके अतिरिक्त गायत्री आदि सात छन्दों की उपमा सूर्य के सात घोड़ों से इस लिए दी गई है कि वेद की ऋचाओं के उच्चारण करने की गति उसी प्रकार सात छन्दों से सुगम होती है, जिस प्रकार घोड़ों के शीघ्र चलने से एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचना सुगम हो जाता है। जिस भांति 'प्रभापरिवेश' अर्थात् वर्तुलाकार चिह्न सूर्य देवता की कान्ति के चारों ओर व्याप्त हुआ दिखाई देता है उसी प्रकार ऋग्वेद की ऋचाएं भी समस्त वेदों के तात्पर्य में व्याप्त हैं। अतः ऋग्वेद को ही चित्सूर्य के मण्डल से उपमा दी गई है।

नाशं *नास्मच्चरणशरणा यान्त्यपि ग्रस्यमानाः
देवैरित्थं †सितमिव यशो दर्शयन्स्वं त्रिलोक्याम् ।
मन्ये सोमं क्षततनुममागर्भवृद्ध्या विवस्व-
न्शुक्लच्छायां नयसि शनकैः स्वां सुषुम्णांशुभासा ॥४३॥

हे विवस्वन् ! अस्मत्-चरण-शरणाः देवैः अपि ग्रस्य-मानाः (सन्तः) नाशं न यान्ति—इत्थं स्वं सितं यशः त्रिलोक्यां दर्शयन् क्षत-तनुं सोमम् अमा-गर्भे वृद्ध्या सुषुम्णा-अंशु-भासा स्वां शुक्लच्छायां शनकैः नयसि—इति (अहं) मन्ये ॥४३॥

हे सूर्य भगवान् ! मेरा विचार है कि आप तीनों लोकों में अपने इस उज्ज्वल यश को— कि मेरे चरणों की शरण में आये हुए (मेरे भक्त) देवताओं आदि से ग्रसित होने पर भी नष्ट नहीं होते हैं—दिखाने के लिए (ही) क्षीण बने हुए चन्द्रमा की अमा-कला को सुषुम्णा नाड़ी की किरणों के प्रकाश से बढ़ा कर धीरे-धीरे (उस चन्द्रमा को) अपनी शुक्लपक्ष की ज्योति को (पुनः) प्राप्त कराते हैं ॥४३॥

४३ * जिस भांति चन्द्रमा की कलाएं कृष्णपक्ष में देवताओं आदि से ग्रस्त होती हैं और अमावस्या को वह चन्द्रमा क्षीण बन कर सूर्य देवता की शरण में जाने से, शुक्लपक्ष में अपनी प्यारी कलाओं को प्राप्त करता है, उसी प्रकार श्वास प्राण-वायु बन कर अर्थात् हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक निकलते समय क्रम से इन्द्रियों की वृत्तियों से क्षीण होता हुआ बाह्य-द्वादशान्त पर प्राण-संधि-रूपी सूर्य देवता की शरण में जाता है। तदनन्तर वह (श्वास) अपान-वायु बन कर बाह्य-द्वादशान्त से हृदयाकाश में प्रवेश करते समय अपनी परिपूर्णता को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि

आस्तां जन्मप्रभृति भवतः सेवनं तद्धि लोके
वाच्यं केनापरिमितफलं *भुक्तिमुक्तिप्रकारम् ।
ज्योतिर्मात्रं स्मृतिपथमितो जीवितान्तेऽपि भास्व-
न्निर्वाणाय प्रभवसि सतां तेन ते कः समोऽन्यः ॥४४॥

हे भास्वन् ! जन्म-प्रभृति यत् भवतः सेवनं तत् आस्ताम् । हि तत् भुक्ति-मुक्ति-प्रकारम् अपरिमित-फलं लोके केन वाच्यम् (न केनचित् वक्तुं शक्यम्) । (परन्तु) त्वं सतां जीवित-अन्ते अपि ज्योतिः-मात्रं स्मृति-पथम् इतः (येन) निर्वाणाय प्रभवसि तेन ते समः कः अन्यः (अस्ति) ॥४४॥

हे सूर्य ! भोग और मोक्ष का (अमूल्य) साधन और असीमित फल से युक्त जो जन्म से ही आप का भजन करना है, वह रहे (अर्थात् उस का क्या कहना है), क्योंकि संसार में इसका वर्णन कौन कर सकता है ? (इस के प्रत्युत) सत्पुरुष (विघ्नों आदि से अभिभूत होने के कारण जन्म भर आप का चिंतन न करने पर, जब अपने) जीवन के अन्त पर भी (अर्थात् मृत्यु के समय) आप के ज्योति-स्वरूप का केवल स्मरण करते हैं, तो आप उन को भी मोक्ष प्रदान करने में समर्थ होते हैं। इस लिए आप के समान (सामर्थ्यवान) और कौन है ? ॥४४॥

प्राण-वायु उस की संधि के संपर्क से ही बार बार प्रवेश करने और उतरने का सामर्थ्य प्राप्त करता है।

४३ † यद्यपि श्वास छोड़ने के समय प्राण-वायु बाह्य-द्वादशान्त पर पहुंच कर सब प्रकार से नष्ट अर्थात् समाप्त भी हो जाता है, तो भी प्राण-अपान की संधि में स्थित चित्-सूर्य अपने प्रभाव से ही उस श्वास को फिर नव-जीवन प्रदान करता है। इसी प्रभाव की ओर 'शुभ्र-यश' शब्द में संकेत है।

अप्रत्यक्ष*त्रिदशभजनाद्यत्परोक्षं फलं त-
त्पुंसां युक्तं भवति हि समं †कारणेनैव कार्यम् ।
प्रत्यक्षस्त्वं सकलजगतां यत्समक्षं फलं मे
युष्मद्भक्तेः समुचितमतस्तत्तु याचे यथा‡ त्वाम् ॥४५॥

अप्रत्यक्ष-त्रिदश-भजनात् पुंसां यत् परोक्षं फलं तत् युक्तम् । (यतः) कारणेन समम् एव हि कार्यं भवति । त्वं सकल-जगतां (मध्ये) प्रत्यक्षः (असि), अतः युष्मद्-भक्तेः समुचितं यत् मे समक्षं फलं (स्यात्) तत् तु (अहं) याचे यथा त्वां याचे ॥४५॥

अप्रत्यक्ष देवताओं का भजन करने से मनुष्यों को जो परोक्ष फल मिलता है, वह युक्ति-युक्त ही है, क्योंकि (संसार में) कारण के अनुसार ही कार्य होता है। (पर हे भगवान् !) आप सारे संसार में (व्यापक होने के कारण) प्रत्यक्ष हैं। अतः आप की भक्ति करने से जो प्रत्यक्ष (और इसी लिए) समुचित फल मुझे (प्राप्त हो सकता है) उसी की मैं बार बार याचना करता हूं जैसे कि (मैं) आप (की प्राप्ति) की (याचना करता हूं)। (फिर भला वह फल मुझे क्यों न प्राप्त होगा) ? ॥४५॥

---

४४ * जीवन में ही शिव-भाव के प्रकट होने तथा चिदानन्द में प्रवेश करने का आस्वाद लेने के अर्थ में ही 'भुक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां विषयासक्ति रूपिणी भुक्ति से अभिप्राय नहीं है। इस के प्रत्युत मुक्ति शब्द में देहान्त के बाद आवागमन के फंदे से छूटने की ओर संकेत है। अतः पाठकजन यहां यह अवधारण कर लें कि भुक्ति मुक्ति से किसी प्रकार भी न्यून नहीं! अर्थात् इन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है।

ये चारोग्यं दिशति भगवान्सेवितोऽप्येवमाहु-
स्ते तत्त्वज्ञा जगति सुभगाः *भोगयोगप्रधानाः ।
भुक्तेर्मुक्तेरपि च जगतां यच्च पूर्णं सुखानां
तस्यान्योऽर्कादमृतवपुषः† को हि नामास्तु दाता ॥४६॥

'भगवान् सेवितः (सन्) आरोग्यं दिशति' एवं ये आहुः, ते जगति तत्त्वज्ञाः सुभगाः भोग-योग-प्रधानाः च (सन्ति) । हि जगतां भुक्तेः मुक्तेः अपि च यत् सुखानां पूर्णं तस्य (आरोग्यस्य) दाता अमृत-वपुषः अर्कात् अन्यः कः नाम अस्तु ॥४६॥

जो (लोग) कहा करते हैं कि सेवित किया हुआ परमात्मा आरोग्य को देता है, वे (इस) संसार में तत्त्वज्ञानी, ऐश्वर्य-संपन्न और भोग तथा योग को मुख्य मानने वाले हैं, क्योंकि (इस) संसार में सुखों से पूर्ण (आरोग्य) तथा भोग और मोक्ष का देने वाला अमृतमय स्वरूप वाले (आप) सूर्य भगवान् से भिन्न और कौन हो सकता है ?

---

४५ * 'त्रिदश' शब्द देवताओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'त्रिदश' उन को कहते हैं जो जीने, बढ़ने और मरने की दशाओं से रहित हों, अर्थात् जिन को ये तीनों दशायें भोगनी न पड़ती हों । इस के अतिरिक्त तेंतीस देवता, बारह सूर्य ग्यारह रुद्र और आठ वसु भी 'त्रिदश' ही समझे जाते हैं ।

४५ † मिट्टी घड़े का कारण है और घड़ा उस का कार्य है । कारण बनी हुई मिट्टी घड़े के निर्माण तथा नाश के समय तक अनुगत है । अतः यह स्पष्ट ही है कि कारण के अनुसार ही कार्य होता है ।

४५ ‡ इस श्लोक में 'यथा त्वां' कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे मुझे साकार मूर्तियों में आप की मूर्ति ही अभीष्ट है, वैसे ही आप की भक्ति के ही समुचित फल की प्राप्ति मुझे अभीष्ट है ।

हित्वा हित्वा गुरुचपलतामप्यनेकान्निजार्था-
न्यैरेकार्थीकृतमिव भवत्सेवनं मत्प्रियार्थम् ।
*तेषामिच्छाम्युपकृतिमहं स्वेन्द्रियाणां प्रियाणा-
†मादौ तस्मान्मम दिनपते देहि तेभ्यः प्रसादम् ॥४७॥

हे दिनपते ! यैः (इन्द्रियैः) मत्-प्रियार्थं गुरु-चपलताम् अनेकान् निज-अर्थान् अपि हित्वा हित्वा भवत्-सेवनम् एकार्थीकृतं, तेषां प्रियाणां स्व-इन्द्रियाणाम् अहम् उपकृतिम् इच्छामि । तस्मात् मम आदौ तेभ्यः प्रसादं देहि ॥४७॥

हे दिननाथ ! मेरी प्यारी इन्द्रियों ने मेरी भलाई के लिए (ही) अनेक अनेक विषयों और (अपनी) बड़ी प्रबल चञ्चलता को तिलाञ्जलि देकर आप की उपासना को अपना केवल एक (ही वाञ्छनीय) विषय बनाया है । (अब) मैं (इन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए) इन का उपकार करना चाहता हूँ । अतः आप मुझ से पहले इन (इन्द्रियों) पर ही अनुग्रह करें । (मुझ पर अनुग्रह करने की अभी कोई आवश्यकता नहीं ।

---

४६ *यहां भोग तथा योग को मुख्य मानने की बात इस लिए कही गई है कि सांसारिक जन योगाभ्यास से आरोग्य की इच्छा इस लिए करते हैं कि उन्हें सांसारिक भोगों के भोगने में सुगमता प्राप्त हो ।

४६ † यहां चित् रूपी सूर्य 'अमृतमय स्वरूप वाला' इस लिए कहा गया है कि उस की शक्ति-रूपिणी किरणें बाह्य सूर्य की किरणों की भांति दाहक अर्थात् जलाने वाली नहीं होतीं, किन्तु वे आनन्द देने वाली तथा अमृत के समान अमरता प्रदान करने वाली हैं ।

४७ * इस श्लोक में कवि ने अपना उद्धार कराने का एक नया ही मार्ग बतलाया है । वह अपनी इन्द्रियों के बहाने अपना ही उद्धार कराने की प्रार्थना करता है, क्योंकि जब साधक की इन्द्रियां निर्मल बनती हैं, तो उस की आत्मा स्वयं ही अनुगृहीत होती है ।

किं तन्नामोच्चरति वचनं यस्य नोच्चारकस्त्वं
किं तद्वाच्यं सकलवचसां *विश्वमूर्ते न यत्त्वम् ।
तस्मादुक्तं यदपि तदपि त्वन्नुतौ भक्तियोगा-
दस्माभिस्तद्भवतु भगवंस्त्वत्प्रसादेन धन्यम् ॥४८॥

हे विश्वमूर्ते ! (अस्मिन् जगति) तत् किं नाम वचनम् उच्चरति यस्य उच्चारकः त्वं न (असि), (एवं) सकल-वचसां तत् किं वाच्यं यत् त्वं न (असि) । तस्मात् हे भगवन् ! त्वत्-नुतौ भक्ति-योगात् यत्-अपि तत्-अपि अस्माभिः उक्तं तत् त्वत्-प्रसादेन धन्यं भवतु ॥४८॥

हे विश्व-मूर्ति प्रभो ! (इस संसार में) वह कौन सा वचन बोला जाता है, जिसका उच्चारण आप नहीं करते है (और) सभी वचनों में कही हुई वह कौन सी बात (या कौन सा विषय) है जो आप के स्वरूप से भिन्न है ? (अभिप्राय यह है कि ईश्वर ही स्वयं कर्ता और कर्म के रूप में ठहरे हुए हैं ।) अतः हे भगवान् ! मैंने आप की स्तुति करने में प्रेम-वश जो कुछ भी कहा है, वह (असमञ्जस होते हुए भी आप के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण अवश्य) आप की दया से (हमारे लिए) कल्याणकारी बने ॥४८॥

४७ † कवि के इस कथन से, कि 'हे प्रभो ! मुझ से पहिले मेरी इन्द्रियों पर ही अनुग्रह कीजिये,' यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि जब तक साधक की इन्द्रियां अनुगृहीत अर्थात् शुद्ध न हों, तब तक उस को ईश्वर के अनुग्रह का पात्र बनने का कोई अधिकार ही नहीं होता ।

४८ * इस श्लोक के पूर्वार्ध में परमात्मा में वाच्य और वाचक होने का जो गुण आरोपित किया गया है, उस का संबोधन के रूप में प्रयुक्त हुए उस के 'विश्वमूर्ति' नाम के साथ हेतुहेतुमद्भाव का संबन्ध है । अभिप्राय यह है कि चूंकि परमात्मा विश्वमूर्ति है, इस लिए वे वाच्य और वाचक दोनों के रूप में ठहरे हुए है ।

*या पन्थानं दिशति शिशिराद्युत्तरं देवयानं
या वा कृष्णं पितृपथमथो दक्षिणं प्रावृडाद्यम् ।
ताभ्यामन्या विषुवदभिजिन्मध्यमा कृत्यशून्या
धन्या काचित्प्रकृतिपुरुषावन्तरा मेऽस्तु वृत्तिः ॥४९॥

या (प्राण-वृत्तिः) शिशिर-आदि-उत्तरं देव-यानं पन्थानं दिशति, अथवा या (अपान-वृत्तिः) कृष्णं प्रावृट्-आद्यं दक्षिणं पितृ-पथं (दिशति), ताभ्याम् अन्या विषुवत्-अभिजित् (रूपा) धन्या कृत्य-शून्या प्रकृति-पुरुषौ-अन्तरा काचित् मध्यमा वृत्तिः मे अस्तु ॥४९॥

जो (प्राण-वृत्ति) शिशिर आदि ऋतु (अर्थात् शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म) संबन्धी, देवयान नामक उत्तरायण मार्ग को दिखाती है और जो (अपान-वृत्ति) बरसात आदि ऋतु (अर्थात् बरसात, शरद और हेमन्त) संबन्धी, कृष्ण और पितृयान नामक दक्षिणायन मार्ग को सूचित करती है, उन दोनों (वृत्तियों) से भिन्न जो 'विषुवत्' और 'अभिजित्' (कही जाने वाली), कर्तव्यों से रहित, प्रशंसनीय (या पुण्य-शीला) और (प्राण-अपान रूपी) प्रकृति-पुरुष के मध्य में ठहरी हुई भी (प्राण-अपान से मुक्त, उन्मना नामक) कोई अलौकिक मध्यमा वृत्ति है, वही मुझे (सदा के लिए) प्राप्त हो ॥४९॥

४९ * सताईसवें श्लोक की टिप्पणी से पाठकों को विदित ही हुआ होगा कि प्राण-वायु अर्थात् हृदय से निकलते हुए श्वास का सञ्चारण-काल छत्तीस अङ्गुलों का होता है और उसी भांति बाह्य-द्वादशान्त से भीतर को प्रवेश करते समय अपान-वायु का सञ्चारण-काल भी छत्तीस अङ्गुलों का होता है । इन्हीं छत्तीस अङ्गुलों के आधार पर 'तन्त्रालोक' आदि बड़े बड़े शास्त्रों में श्वास के एक ही सञ्चारण-काल में एक संपूर्ण वर्ष-संबन्धी काल का अनुभव करने के लिए उत्तरायण तथा दक्षिणायन

स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्सेतुबन्धस्य मध्ये
प्राप्योपेयं ध्रुवपदमथो व्यक्तमुद्दाल्य तालु* ।
सत्यादूर्ध्वं किमपि परमं व्योम सोमाग्निशून्यं
गच्छेयं त्वां सुरपितृगती चान्तरा ब्रह्मभूतः ॥५०॥

अहं किञ्चित् (संकल्प-संस्कारात्मकं) मनः पिबन् इव (सन्) सेतु-बन्धस्य मध्ये स्थित्वा, उपेयं ध्रुव-पदं प्राप्य, अथ तालु व्यक्तम् उद्दाल्य, सुर-पितृ-गती अन्तरा च ब्रह्म-भूतः (सन्) सत्यात् ऊर्ध्वं सोम-अग्नि-शून्यं किम्-अपि परमं व्योम त्वां गच्छेयम् ॥५०॥

मैं मन (के अवशिष्ट संकल्प-रूपी संस्कार) को लय करके (प्राण-अपान के मध्य में होने वाले) सेतुबन्ध (अर्थात् पुल) पर ठहरूं, उपेय ध्रुव पदवी को प्राप्त करके तथा तालु (में स्थित लम्बिका चतुष्पथ) को काट कर (अर्थात् खोल कर) देवयान तथा पितृयान के आन्तरिक आधारभूत ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करूं और सत्य से भी उत्कृष्ट, (प्राण-अपान रूपी) सोम और अग्नि से शून्य तथा चिदाकाश में स्थित तेरे अलौकिक स्वरूप को प्राप्त करूं ॥५०॥

का मार्ग दिखाया गया है। उत्तरायण के छः मासों में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं का समावेश होता है और दक्षिणायन के शेष छः मासों में बरसात, शरद तथा हेमन्त इन तीन ऋतुओं का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त 'विषुवत्' तथा 'अभिजित्' आदि महापवित्र पर्वों का वर्णन किया गया है, जिनका अनुभव करने से योगी समस्त सांसारिक सुखदुःखादि द्वन्द्वों से छूट जाता है।

४९ † विषुवत्' और 'अभिजित् नाम वाली मध्यमा वृत्ति को 'कृत्य-शून्य' अर्थात् कर्तव्यों से रहित इसलिए कहा गया है कि इस में प्राण-अपान की गति का अस्तित्व ही नहीं रहता।

सर्वात्मत्वं सवितुरिति यो वाङ्मनःकायबुद्ध्या
रागद्वेषोपशमसमतायोगमेवारुरुक्षुः ।
धर्माधर्मग्रसनरशनामुक्तये युक्तियुक्तां
स *श्रीसाम्बः स्तुतिमिति रवैः सुप्रशान्तां चकार ॥५१॥

यः राग-द्वेष-उपशम-समता-योगं सवितुः सर्वात्मत्वम् आरुरुक्षुः (आसीत्), सः श्री-साम्बः धर्म-अधर्म-ग्रसन-रशना-मुक्तये, वाङ्-मनः-काय-बुद्ध्या-युक्ति-युक्तां-सुप्रशान्तां रवेः इति स्तुतिं चकार ॥५१

जो श्री साम्ब राग-द्वेष की शान्ति के द्वारा साम्य-योग से संपन्न सूर्य भगवान् की सर्वात्मकता को अवलम्बित करना चाहता था, उसी ने पुण्य-पाप के ग्रास रूपी पाश के बन्धन से मुक्त होने के लिए वाणी, मन, शरीर और बुद्धि से (चित् रूपी) सूर्य की (यह) युक्ति-युक्त तथा आत्म-विश्रांति देने वाली स्तुति रची ॥५१॥

---

५० * इस श्लोक में तालु के मध्य में स्थित लम्बिका-स्थान के वर्णन की ओर संकेत किया गया है। इस के विषय में अनुभव के आधार पर कुछ विचार प्रकट किये जाते हैं—

जिस समय निर्विकल्पता के कारण योगी के प्राणों की गति सूक्ष्म होती है, उसी समय तुरीय अवस्था को प्राप्त करके तालु में स्थित 'लम्बिका चतुष्पथ' का वह अनुभव करता है। 'लम्बिका' को 'चतुष्पथ' अर्थात् चुराहा इस लिए कहा जाता है कि तालु में चार द्वार होते हैं। यही चार द्वार चार मार्गों को दिखाते हैं। दो मार्गों से तो सामान्य प्राण-अपान की गति होती है, तीसरे मार्ग से मन्द-योगियों के प्राण-अपान सुषुम्ना-धाम में लय होकर मूलाधार में पहुंचते हैं और षट्-चक्रों का भेदन करके ब्रह्माण्ड को व्याप्त करते हैं, वहां वे योगी चिदानन्द का अनुभव करते हैं। इस के प्रत्युत चौथे मार्ग से उत्तम योगियों का प्राण-वायु सीधे ही ब्रह्माण्ड को पहुंचता है और उसे मूलाधार में से गुजरने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन चार मार्गों का उल्लेख ऊपर हुआ है, उन में से पहिले दो का संबन्ध संसार के साथ है और पिछले दो का संबन्ध मोक्ष के साथ है।

भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवल्लभेनेदमुक्तं
श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम् ।
यः सावित्रं पठति नियतं स्वात्मवत्सर्वलोका-
न्पश्यन्सोऽन्ते व्रजति शुकवन्मण्डलं चण्डरश्मेः ॥५२॥

यः भक्ति-श्रद्धा-आदि-अखिल-तरुणी-वल्लभेन श्रीसाम्बेन उक्तम् इदं प्रकट-गहनम् अध्यात्म-गर्भं सावित्रं स्तोत्रं नियतं पठति, सः स्वात्मवत् सर्व-लोकान् पश्यन् अन्ते शुक-वत् चण्डरश्मेः मण्डलं व्रजति ॥५२॥

इस सूर्य-भगवान् के स्तोत्र को भक्ति और श्रद्धा आदि रूपिणी सभी नवयुवतियों के वल्लभ श्री साम्ब ने रचा है यह (सामान्य शब्दार्थ के विचार से) स्पष्ट अर्थात् सरल (पर आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से) कठिन तथा आध्यात्मिक रहस्य-पूर्ण अर्थों से भरा हुआ है। जो (मनुष्य) इस का नियम-पूर्वक पाठ करेगा, वह सारे संसार (के लोगों) को स्वात्म-रूप ही देखता हुआ अन्त में (भगवान् व्यास के पुत्र) शुकदेव की तरह (चित् रूपी) सूर्य के (आनन्द रूपी) मण्डल को प्राप्त होगा ॥५२॥

---

५० † यहां 'सोमाग्निशून्य' कहने का यह अभिप्राय है कि जिस समय योगी लम्बिका के द्वार से प्राण-वायु की ऊर्ध्व-शक्ति के द्वारा ब्रह्म-रंध्र को व्याप्त करता है, उस समय, उस का प्राण-अपान लय हो जाता है। तदनन्तर ही योगी को अलौकिक स्थिति प्राप्त होती है। यहां प्राण-अपान से रहित इसी अलौकिक स्थिति की ओर 'सोम-अग्नि-शून्य' शब्द में संकेत है।

५१ * इस श्लोक में 'साम्ब' के साथ जो 'श्री' शब्द का विशेषण रक्खा गया है, उस का अर्थ सांसारिक लक्ष्मी न हो कर मोक्ष-लक्ष्मी ही है।

इति परमरहस्यश्लोकपञ्चाशदेषा
तपननवनपुण्या सागमब्रह्मचर्चा
हरतु दुरितमस्मद्वर्णिताकर्णिता वो
दिशतु च शुभसिद्धिं मातृवद्भक्तिभाजाम् ॥५३॥

इति एषा तपन-नवन-पुण्या स-आगम-ब्रह्म-चर्चा, परम-रहस्य-श्लोक-पञ्चाशत्, अस्मद्-वर्णिता वः आकर्णिता भक्ति-भाजां दुरितं, मातृवत्* हरतु, शुभ-सिद्धिं च दिशतु ॥५३॥

मैं ने इन पचास रहस्यपूर्ण श्लोकों (के रूप में) यह स्तोत्र कहा है। यह (चित्स्वरूप) सूर्य भगवान् की स्तुति करने से पवित्र तथा आध्यात्मिक शास्त्रों और ब्रह्म की कथाओं से भरा हुआ है। आप जनों ने इस का श्रवण किया है। यह (आप) भक्तजनों के दुःखों (या पापों) को माता की भान्ति नष्ट करे और कल्याण रूपिणी श्रेष्ठ सिद्धि को प्रदान करे ॥५३॥

श्रीस्वात्मसंविदभिन्नरूपशिवार्पणमस्तु ।
समाप्तं चेदं साम्बपञ्चाशिकाशास्त्रम् ।

---

५३ * माता की भान्ति कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार माता अपने बच्चों के दुःखों का निवारण करने और उन्हें शुभ सिद्धि प्राप्त कराने का सदा प्रयत्न करती है वैसे ही इस स्तोत्र का पाठ या श्रवण भी सभी भक्तजनों के दुःखों को दूर करे और उन्हें शुभ सिद्धि प्रदान करे।

नार्मल प्रेस श्रीनगर से छपी गई है।